ब्रह्मविज्ञान संहिता

❁ वेदव्यास सूत सम्वाद रूपा ❁

रचयिता

स्वामी स्वयम्भू तीर्थ

मकर संक्रान्ति २०१६

ब्रह्मविज्ञान संहिता

❁ वेदव्यास सूत सम्वाद रूपा ❁

रचयिता

स्वामी स्वयम्भू तीर्थ

मकर संक्रान्ति २०१६

व
५५५

अनन्त श्री विभूषित भारत की धर्मपताका श्रोत्रिय विद्वद्वरिष्ठ
ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती
महाराज पूज्यपाद करपात्री जी की सम्मतिः

पुस्तक मिलने का पता :—

श्रीमान् कृष्णदत्त भैरवदत्त त्रिवेदी, रईस तालुकेदार, आदर्श पुस्तकालय, पो० ब्रह्मावली, जिला सीतापुर।

साधारण जिल्द मूल्य ६)

मध्यम जिल्द मूल्य ८)

*

श्रीमान् ब्रह्मानन्द त्रिवेदी एम० ए० एल० एल० बी० सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, २१/ई मौरिस नगर दिल्ली–८।

उत्तम जिल्द तथा उत्तम कागज मूल्य १०)

शीर्षक कृति लगभग पूरी देखी। रचना प्रर्याप्त आकर्षक है। इसमें काव्योचित ढंग से रहस्यमय ज्ञान, सुकुमार मति जिज्ञासुओं के लिये भी ग्रन्थित है। स्वामी जी इस सराहनीय प्रयास के लिए मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

स्वामी कृष्णबोधाश्रम

प्रकाशक :
श्री स्वामी स्वयम्भूतीर्थज्ञानोदय संघ, ज्ञान मन्दिर,
ग्राम ज्ञानपुर (गनुआँपुर) पो० ओ० शाहाबाद
जिला हरदोई (उत्तर प्रदेश)

मुद्रक :
युनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली—८

व
५५५

अनन्त श्री विभूषित भारत की धर्मपताका श्रोत्रिय विद्वद्वरिष्ठ ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती महाराज पूज्यपाद करपात्री जी की सम्मतिः

श्री स्वयम्भूतीर्थ स्वामी द्वारा विरचित 'ब्रह्म विज्ञान' को सरसरी तौर पर देखकर प्रसन्नता हुई। इसमें मंजी हुई लेखनी से गूढ़ तत्वों का निरूपण किया गया है। इसके पढ़ने से कुतहल पूर्ण इतना मन लगता है कि इसे बीच में छोड़ने की इच्छा नहीं होती। श्रोतागण इसका आदर करें, जिज्ञासु प्रसार करें और लाभ उठायें इसलिये इस ग्रन्थ की अभिवृद्धि के लिये हमारा शुभ आशीर्वाद है।

करपात्र स्वामी

***

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु ज्योतिर्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य जी महाराज श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्यपाद अनन्त श्री कृष्णबोधाश्रम जी की सम्मतिः

मैंने स्वामी श्री स्वयम्भू तीर्थ जी की ब्रह्मविज्ञान (श्री वेदव्यास सूत सम्वाद) शीर्षक कृति लगभग पूरी देखी। रचना प्रर्याप्त आकर्षक है। इसमें काव्योचित ढंग से रहस्यमय ज्ञान, सुकुमार मति जिज्ञासुओं के लिये भी ग्रन्थित है। स्वामी जी इस सराहनीय प्रयास के लिए मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

स्वामी कृष्णबोधाश्रम

कवि तार्किक चक्रवर्ती भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत महाविद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (श्री १००८ महेश्वरानन्द सरस्वती जी) श्री महादेव जी शास्त्री की सम्मतिः—

ब्रह्मविज्ञान नामक प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि मैंने प्रायः आद्योपान्त देखी। कथा के सरस एवं कुतूहलवर्द्धक आवरण में आध्यात्मिक रहस्य की सुश्लिष्ट उपस्थापना है। स्वामी जी के प्रस्तुत प्रयास की मैं हृदय से प्रशंसा करता हूँ। जिज्ञासु पाठकों को इसमें काव्य एवं दर्शन का मञ्जुल समन्वय लक्षित होगा।

महादेव शास्त्री

***

भूतपूर्व वाइस प्रिन्सिपल ट्रेनिङ्ग कालेज वाराणसी श्री चन्द्रमौलि सुकुल जी की सम्मतिः—

मैंने "ब्रह्म विज्ञान" नाम धेय पुस्तक आद्योपान्त पढ़ी। वेदान्त के गम्भीर तत्वों को नाटकीय शैली पर सरल रीति से लिखा गया है। भारतीय दर्शन का ऐसा स्तुत्य विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। यह ग्रन्थ विद्वानों का कण्ठहार और परमार्थ पथिकों का मार्ग प्रदर्शक है। साहित्य और दर्शन का सफल समन्वय इस में हुआ है। ज्ञान ग्रन्थ में इतनी सरसता लेखक की सिद्ध हस्तता द्योतित करती है। यदि ग्रन्थ के आदिम भाग में अलङ्कारों की झङ्कार है तो अन्तिम भाग में संसार ब्रह्ममय दृष्टिगोचर होता है। चेतन तत्व की साकार आनन्द धारा सूक्ष्म विवेकियों को अनुभूति होगी। संसार में ज्ञानी बनने के लिए तो यह ग्रन्थ परमोपयोगी है।

मैं इस का हृदय से प्रचार एवं प्रसार का इच्छुक हूँ।

चन्द्रमौलि सुकुल
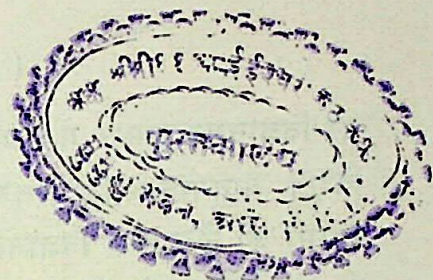
श्रीहरिः

भूमिका

श्रीमान् पूज्यचरण स्वामी जी ने 'ब्रह्म विज्ञान संहिता' नामधेय ग्रन्थ लिखकर मानवमात्र का परम कल्याण किया है। वेदान्त की चर्चा मध्यम काल में कुछ मन्द सी हो गई थी। शङ्कराचार्य के बाद उनके शिष्यों द्वारा वेदान्त सरिता का प्रवाह कुछ दिनों तक तो पूर्व गति से प्रवाहित होता रहा परन्तु आगे चल कर वह मन्द हो गया। वर्तमान काल में उसकी ओर विद्वानों का ध्यान गया और वेदान्त की चर्चा भली भाँति विद्वानों में चल पड़ी। पूज्य स्वामी जी ने ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ लिख कर एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इसमें महत्तर ज्ञान को सुलभ कर दिया है।

ग्रन्थ का नाम है 'ब्रह्म विज्ञान संहिता' इस नाम से स्वामी जी का सङ्केत रहस्य मय है। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। आज का संसार विज्ञानवादी है। अध्ययन में भी विज्ञान का ही प्राधान्य है। विज्ञान पढ़े बिना जीविका वृत्ति नहीं। विज्ञान का ही सर्वत्र बोल बाला है। यहाँ तक कि विज्ञान-वादियों का ईश्वर विज्ञान ही है।

जब सर्वत्र विज्ञान का ही महत्त्व है तो हमारे पूज्य स्वामी जी इससे पृथक कैसे रह सकते हैं क्योंकि आप भी

तो विज्ञानमय संसार में विज्ञान निर्मित मोटर, रेल, पँखा, विद्युत्, वायुयान आदि वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। अतएव स्वामी जी ने समस्त विज्ञानों का मूल 'ब्रह्म विज्ञान' लिख ही डाला। स्वामो जी ने देखा कि जब बिना विज्ञान के सत्ता ही नहीं तो संत भी विज्ञान पढ़ें और सीख कर प्रयोग करें। अतः यह विज्ञान लिखा गया।

नाम का तात्पर्य स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ मस्तिष्कवान् आधुनिक विद्वानों के लिए विशेष उपयोगी है। आज का व्यक्ति तर्क की कसौटी पर कस कर ही किसी भी तत्व को निश्चय करता है। अतः इस ग्रन्थ में तार्किक शैली का उपयोग किया गया है। अनेक शङ्कायें करके समाधान किया गया है। इसमें प्रायः नाटकीय पात्रों की भाँति प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया गया है। सम्बाद प्रधान सरलता पूर्वक सरस शब्दों में सार समझना चाहता है। इसी दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ नाटकीय शैलो से कथाओं के रूप में लिखा गया है। कथाओं से गम्भीरतम मर्म नितान्त सरल रूप से समझाया गया है। जीव से लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, अविद्या, काम, क्रोध इत्यादि का रूपक अद्भुत है। साहित्य-कला का भी विलक्षण प्रदर्शन है।

प्रारम्भ में ग्रन्थ की रूप-रेखा अत्यन्ताकर्षक और मनोरम रूप में चित्रण की गई है। सनत्कुमार और शङ्कर भगवान् के सत्सङ्ग प्रसङ्ग में एक गुप्त सत्ता का परिचय दिया गया है। शङ्कर द्वारा सनकादिकों को जो उपदेश दिया गया वह पाठक को उत्सुक करता है, वह ज्ञान

अनुभव जन्य है। वेद वेदान्त ज्ञाता सनत्कुमार जब तपस्या करते हैं, तब उनके समक्ष शङ्कर ग्राविर्भूत होते हैं उस समय का वर्णन रसोल्लास से आनन्दित करता है। शङ्कर के स्वरूप का वर्णन ग्रालङ्कारिक है, साहित्यिक छटा वहाँ पर छाई हुई है। साहित्य सौन्दर्य लेखक के काव्य-ज्ञान को प्रकटित करता है। शङ्कर उपदेश से यह भी ध्वनित होता है कि हमारे यहाँ की प्रारम्भिक उपदेश प्रणाली मानसिक ही थी। आज वह प्रणाली बिल्कुल विपरीत हो गई। कैलाश पर्वत का वर्णन पढ़ते समय वहाँ की प्राकृतिक छटा नेत्रों के समक्ष नृत्य करने लगती है। वेदान्त ग्रन्थों में साहित्यिक कला का इतना ध्यान नहीं रक्खा जाता है, परन्तु 'ब्रह्म विज्ञान' में इस पर पूरा ध्यान रहा कि पाठक वेदान्त की कठोरता से उद्विग्न न हो जावें। अतः सरसता वाँछनीय रही। इस प्रकार ग्रन्थ का वाह्य रूप भी मनोरम है।

ग्रन्थ के ऊपरी कलेवर की अपेक्षा उसका ग्राभ्यन्तरिक स्वरूप विशेष महत्वपूर्ण है, वेदान्त विषय ग्राभ्यन्तरिक ही होता है। वह तो स्वानुभव की वस्तु है। ग्रन्थ का एक-एक शब्द तीव्र अनुभूति ग्रौर गम्भीर ज्ञान का द्योतक है। अध्यात्म प्रेमियों के लिए यह ग्रन्थ मार्गप्रदर्शक गुरु है। अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय को स्पष्ट रूप से खोल कर समझाया गया है। सर्व प्रथम दुःख पर ही विचार किया गया है **'सर्वेषु दुःखेषु जगद् गतेषु, कर्त्तव्य तैवास्ति विशालदुःखम्'**। दुःख के मूल पर विचार करके लेखक ने कर्त्तव्यता को ही विशेष दुख बताया है। कर्त्तव्यता रूपी पिशाच से सभी

व्यक्ति ग्रस्त हैं। बड़ा ही सुन्दर व्यङ्ग्यात्मक वर्णन वहाँ पर किया गया है। लिखा है कि कर्त्तव्यता शेष रहने पर भी सुख चाहने वाला व्यक्ति वैसा ही है, जैसे किसी व्यक्ति का सम्पूर्ण शरीर ज्वाला से दग्ध हो खाल शरीर से अलग हो चुकी हो और उस स्थिति में वह अप्सरालिङ्गन का सुख भोगे। बड़े ही सुन्दर रीति से लेखक ने वस्तु स्थिति समझाई है। कर्त्तव्यता दुख के विनाश का उपाय भी लेखक ने बताया है कि "विचार एवास्ति परं निधानं बीजं विशुद्धं सुख पादपस्य"। कर्त्तव्यता का नाश विचार से होता है। वही सुख पादप का विशुद्ध बीज है। विचार का दिग्दर्शन बड़ा ही विशुद्ध रूप से हुआ है। विचार की सूक्ष्मता में हृदय और मस्तिष्क पर गम्भीरता से लिखा गया है। संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति बताये हैं देव, मानव, दानव। हृदय प्रधान देव है, हृदय और मस्तिष्क दोनों का समान उपयोग करने वाला मानव है, केवल मस्तिष्कवान् व्यक्ति दानव है। बलि और शुक्राचार्य का उदाहरण अपूर्व ढङ्ग से दिया गया है। राम, भरत, केकयी इन तीनों पात्रों की अद्भुत उद्भावना इस प्रसङ्ग में की गई है। तीन अध्यायों तक तो ग्रन्थ की भूमिका ही है। ग्रन्थ का मुख्य विषय विद्युत्कला की कथा से प्रारम्भ होता है। विद्युत्कला विषम दृष्टि को अपूर्व ढङ्ग से वैराग्य उत्पन्न कराती है वह प्रश्न कर उठती है कि संसार में क्या इष्ट है, क्या अनिष्ट है। इस सामान्य प्रश्न के आधार पर ही मुख्य विषय चल उठता है। सुख कहाँ है, इस बात पर ही विद्युत्कला विषमदृष्टि को एक नवीन दिशा में मोड़

देती है। सुन्दरता क्या वस्तु है ? हम सुन्दरता की भावना कैसे करते हैं? इत्यादि विषयों पर बड़ा गहरा विचार करके लेखक ने वैराग्य का वर्णन किया है।

आधुनिकता पर दृष्टि रखते हुये स्वामी जी ने नारी को गुरु रूप में रक्खा है। विद्युत्कला गुरु का और विषम-दृष्टि शिष्य का अभिनय करते हैं। आज का संसार कान्ता सम्मत 'उपदेश' को ही सुखप्रद मानता है। इसीलिये काव्यत्व एवं रूपक अलङ्कारों तथा दृष्टान्तों का आश्रय लेना पड़ा। गम्भीरतम तत्वों का स्पष्टीकरण दृष्टान्तों द्वारा ही किया जा सकता है। 'सुन्दरता' कोई वस्तु नहीं केवल मन की मानी हुई एक कल्पना है' इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण राज कुमार के दृष्टान्त द्वारा बड़े ही रोचक ढङ्ग से किया गया है। 'त्रैलोक्य सुन्दरी राजाङ्गना कन्दर्प दर्प दलन विधि पटीयान् परम सुन्दर राज कुमार को त्याग कर कुरूप भृत्य से प्यार करती है'। यह है सौन्दर्य का साकार रूप। इस प्रकार कई स्थलों पर दृष्टातों द्वारा तात्विक विवेचन हुआ है। बकरी और मन्त्री का दृष्टान्त सिद्धान्त पुष्टि में बहुत सुन्दर है बुद्धि रूपी बकरी जब विषयाकार वृत्ति से विमुख हो जाती है तो मन रूपी मन्त्री की सङ्कल्प विकल्पात्मक दाढ़ी काट ली जाती है। रोचक दृष्टान्तों से विषय का स्पष्टीकरण भली प्रकार किया गया है। भ्रूण और मधुप का दृष्टान्त तत्व ज्ञान जैसे गम्भीर विषय को सरलता से समझाता है।

विद्युत्कला द्वारा आत्म ज्ञान पाकर विषमदृष्टि कृतार्थ हो जाता है। साधक को आत्म दर्शन के लिए किस प्रकार

साधना करनी चाहिये, इस मार्ग में क्या-क्या बधायें होती हैं, उस स्थिति में क्या-क्या अनुभव होते हैं। इत्यादि गूढ़ रहस्य का अद्भुत वर्णन हुआ है। आत्म स्थिति के पश्चात् सिद्धावस्था में क्या अनुभव होता है। कैसा व्यवहार रहता है। उसका संसारी कार्य किस प्रकार चलता है इत्यादि समस्याओं का वर्णन साधक के लिए साकार हो उठे हैं।

सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैज्ञानिक रीति से किया गया है "सङ्कल्प सिद्धि" जैसा आकर्षक विषय लेखक ने बड़े ही मार्मिक रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। भावना सिद्धि कैसे होती है, इस साधना से साधक को बहुत ही लाभ हो सकता है। समस्त सिद्धियों का मूल भावना है, वह भावना कहाँ से उठती है, कैसे बढ़ती है, उसकी क्या गति है, उस को स्थिर कैसे किया जाता है, इत्यादि प्रश्नों का सुलझा हुआ सरस ज्ञान इस ग्रन्थ में है। कितने सरल और सूक्ष्म शब्दों में सङ्कल्प सिद्धि का उपाय है। कि "जब सङ्कल्प सङ्कल्पकर्ता से अभिन्न हो जाता है तभी सङ्कल्प सिद्धि हो जाती है"। इस ग्रन्थ में अनेक गूढ़ गुत्थियों को अल्प शब्दों में आकर्षक रीति से बता दिया गया है। अविद्या परिवार का वर्णन बड़े ही रोचक ढङ्ग से किया गया है, विद्युत्कला अपने पिता तथा सखी के परिवार को विद्यात्मक रूपक द्वारा बताती है। चेतन तत्व जैसे सूक्ष्म पदार्थ का वर्णन स्थूल रूप में आश्चर्यमय भाषा में किया गया है। विद्युत्कला की सखी का परिवार का स्पष्टीकरण आगे अध्याय में कर दिया गया है।

व
५५५५

ग्रन्थ का क्रम भी उत्तम रीति से रखा गया है। प्रारम्भ में प्रश्नात्मक ग्रन्थ है। उत्तरोत्तर यह ग्रन्थ गम्भीर होता चला गया है। गम्भीरता की दृष्टि से ग्रन्थ का उत्तर पक्ष अपूर्व है। गम्भीरता में सागर सदृश यह बुद्धिमानों की बुद्धियों को डुबा लेता है। गार्गी और अष्टावक्र के प्रश्नोत्तर बड़े ही सूक्ष्म हैं। गार्गी की विद्वत्ता दिखा कर लेखक ने यह सिद्ध किया है कि नारी समाज भी इस वेदान्त तत्व का अधिकारी है। वह भी ज्ञान प्राप्ति में सफल हो सकती है। विद्युत्कला तो इस में ज्वलन्त उदाहरण ही है। पूर्ण ज्ञानी अर्थात् गुरु सरलता से अधिकारियों को ज्ञान दे सकता है। गुरु की कृपा शिष्य को क्षण भर में निहाल कर सकती है। यह बात विद्युत्कला के प्रसङ्ग से स्पष्ट प्राप्त होती है। विद्युत्कला के सत्सङ्ग से सम्पूर्ण विद्या नगर ज्ञानी बन गया। सत्सङ्ग का महत्व लेखक ने विशेष रूप से बताया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही सत्सङ्ग से किया गया है। सूत जी ऋषियों को सत्सङ्ग ही कराने जा रहे हैं। तदनन्तर सूत जी स्वयं मोहान्धकार नाशक गुरु व्यास के शरण जाकर सत्सङ्ग ही करते हैं। विषम दृष्टि सत्सङ्ग द्वारा ही स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लेता है। मुनि पुत्र और उमारमण का भी सत्सङ्ग ही हुआ है। गार्गी, अष्टावक्र तथा अष्टावक्र और जनक का सत्सङ्ग गूढ़ ज्ञान का द्योतक है। विशुद्धबुद्धि और ब्रह्म राक्षस का सत्सङ्ग पराकाष्ठा पर ही पहुँच गया है। अल्प शब्दों में गम्भीर ज्ञान भर दिया गया है। ब्रह्म राक्षस के प्रश्न और विशुद्धबुद्धि के उत्तर साधकों को स्मृति पटल पर उतार

लेने की वस्तु है। इस ग्रन्थ में पाँच सोपान हैं। ब्रह्म रस पूर्ण चैतन्य घन-सघन स्वात्म स्वरूप सरोवर में उतरने के लिये सत्सङ्ग ही पाँच सोपान है। प्रथम सोपान वेद व्यास और सूत सम्बाद का है। सर्व प्रथम लेखक ने सन्तों को ही अवलम्ब माना है। सन्त का सहारा लिये बिना जीव ब्रह्म रस सरोवर में नहीं प्रवेश कर सकता। दूसरा सोपान विद्युत्कला और विषमदृष्टि के सम्बाद का है। इस सोपान से यह अभिप्राय है कि कर्तव्य पालन के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। गृहस्थाश्रम की भी आवश्यकता साधकों को है यह भी द्योतित किया गया है। उस सोपान से वैराग्य और विचार की प्रधानता दी गई है। तृतीय सोपान मुनि पुत्र और उमारमण सम्बाद का है, उस में संसार की सत्ता क्या है और कैसे है, यह बता कर चैतन्य को ही संसार रूप में परिवर्तित बताया है। इस प्रसङ्ग में ज्ञान की स्थिति कुछ ऊँची उठाई गई है। चतुर्थ सोपान जनक और अष्टावक्र सम्बाद हैं। इसमें ज्ञान तृतीय सोपान की अपेक्षा और भी ऊंची स्थिति में रक्खा गया है। सविकल्प और निर्विकल्प समाधि का स्वरूप दिखा कर क्षणिक समाधियों का दिग्दर्शन कराया गया है। सुषुप्ति और समाधि का सम्यक् अन्तर बता कर समाधि का साधन बताया है। पाँचवाँ सोपान विशुद्धबुद्धि और ब्रह्म राक्षस के सम्बाद का है। वही ज्ञान की अन्तिम भूमिका है। पूर्ण ज्ञानी की क्या दशा होती है। उत्तम ज्ञानी किस स्थिति पर पहुँच जाता है। यह सब उस सोपान का स्वरूप है। पाँचों सोपानों का तत्व हृदयङ्गम हो जाने पर मानव ब्रह्मानन्दरूप

सरोवर में निमग्न हो सकता है। इस ग्रन्थ में पाँचों सोपान क्रम-क्रम से गम्भीर होते चले गये हैं। कलात्मक दृष्टि भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। अन्ततः व्यास-सूत सम्बाद में सभी सम्बादों का अन्तर्भाव हो जाता है।

यह ग्रन्थ ज्ञान प्रधान है। ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य है कि मानव मात्र ज्ञानी बन जावे, "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती, ज्ञान विचार से उत्पन्न होता है, विचार सत्सङ्ग से आता है। अतः सत्सङ्ग का प्राधान्य है। ज्ञानी हो जाने के पश्चात् संसार छोड़ा नहीं जाता और न संसार के साथ विपरीत व्यवहार किया जाता है। केवल ज्ञानी की दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। ज्ञानी के लिये संसार मृतक सर्प की भाँति निस्सार हो जाता है। अज्ञानी का संसार सुख-दुःख दोनों ही देता है परन्तु ज्ञानी का संसार कुछ भी नहीं देता। ज्ञानी भी संसार से वैसा ही व्यवहार करता है जैसा व्यवहार अज्ञानी करता है। परन्तु अन्तर इतना है कि ज्ञानी संसार से बन्धन में नहीं आता, अज्ञानी बन्धन में पड़ता है। इस ग्रन्थ में उसी ज्ञानी को उत्तम ज्ञानी कहा है कि जो ज्ञानी होता हुआ व्यवहाररत हो। व्यवहार से ऊब कर समाधिस्थ रहने वाला योगी मध्यम ज्ञानी है।

आधुनिक नेताओं के लिये यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है इस ग्रन्थ के प्रायः सभी पात्र राजा होकर ज्ञानी बने हैं और अपना राज्य चलाते हुये ज्ञान द्वारा आत्मस्थ रहते हैं। ग्रन्थकार व्यवहार से पृथक रहने वाले को पूर्ण ज्ञानी नहीं

मानता। नेत्र बन्द करने पर ही ब्रह्म दर्शन नहीं किया जा सकता, विद्युत्कला के शब्दों में यह बात कही भी गई है कि "चावल भर आँख की ओट में ही ब्रह्म रहता है। राजन्! तुम्हारा ब्रह्म कैसा है जो आँख खोलने से चला जाता है।" साधना की परिपक्वावस्था वही है कि सभी स्थितियों में एक ही सी स्थिति रहे। आज के महापुरुष कर्मठ को महत्व देते हैं। इस ग्रन्थ में कर्मठ बनने की सरल युक्ति बताई गई है। संसार के पदार्थों का यथार्थ मर्म जान लेने पर मनुष्य इस में नहीं फँसता। ग्रन्थ में बताया गया है कि संसार क्या है, चैतन्यमय है, शुद्ध चैतन्य ही संसार रूप में परिणत हो गया है। अन्तर्मुखी वृत्ति करके जीव जब अपने स्वरूप में सहज स्थिति प्राप्त कर लेता है तब वह सिद्ध हो जाता है। सिद्धावस्था में रहने वाला व्यक्ति व्यवहार में अनासक्त व्यक्ति ही शुद्ध व्यवहार कर सकता है। ग्रन्थकार ने आत्म-स्थिति के लिये विशेष आग्रह किया है। आत्म-बोध किये बिना व्यवहार में लिप्त न होना असम्भव है। उत्तम ज्ञानी वही है जो व्यवहार करता हुआ भी लक्ष्य-च्युत नहीं होता। उत्तम ज्ञानी कौन है, उसका क्या साधन है, इत्यादि विषयों के रहस्यमय उत्तर इस ग्रन्थ में हैं। बड़े-बड़े सन्तों में यह शङ्का है कि ज्ञानी की दृष्टि में संसार का अभाव होता है फिर ज्ञानी सांसारिक व्यवहार में कैसे लिप्त रह सकता है। ज्ञानी होकर संसार में लिप्त रहना तो रात दिन का एकत्र होना है, यह कैसे सम्भव हो सकता है, इस विलक्षण शङ्का का अपूर्व रहस्यमय समाधान किया गया है।

"अपराध वासना", "कर्म वासना", "काम वासना" का मर्म समझाते हुये लेखक ने ज्ञान का गूढ़ तत्व समझाया है। अपराध वासना और कर्म वासना के विनाश से ज्ञान हो सकता है, "काम वासना" शेष रहने पर भी ज्ञान हो सकता है, ज्ञानी होने पर काम वासना का यथार्थ तत्व समझ में आ जाता है अतः ज्ञानी काम वासना से निर्भय हो जाता है। उसके विनाश के लिये विशेष उद्विग्न नहीं होता। काम वासना-विशेष ज्ञानी "वहु मानस" ज्ञानी कहा जाता है। बहु मानस ज्ञानी के लिये संसार व्यवहार नाटकीय कार्य होते हैं। वह प्रारब्ध वश स्वप्न-वत् सभी कार्यों को करता रहता है। उस के सञ्चित और क्रियमाण दोनों ही कर्म विनष्ट हो जाते हैं, धनुष से छूटे हुये बाण की भाँति अनिवार्य पक्व कर्म शेष रह जाता है ज्ञानी उन्हें अन्य-मनस्क भाव से भोग करता है। उसे-जली रज्जु की भाँति वह कर्म बन्धन कारक नहीं होते। इस प्रकार अनेक रहस्य पूर्ण विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में हुआ है।

गीता का मूल "कर्म योग" इस ग्रन्थ को पढ़ने से ही ठीक-ठीक समझ में आता है। ग्रन्थकार ने कर्मयोग पर विशेष आग्रह किया है। श्री कृष्ण चन्द्र भगवान् 'मामनुस्मर युध्यच का जो आदेश दिया है उसी को लेखक ने विज्ञानमयी भाषा में खूब समझाया है। गीता का यथार्थ मर्म, 'ब्रह्म विज्ञान' पढ़ कर ही समझा जा सकता है। लेखक ने कर्महीन कों विमनस्क ज्ञानी बताया है। जो सब से छोटी स्थिति का है। वास्तव में आज के संसार के लिये यह पुस्तक परमोपयोगी

है। आज के नेता-गण कर्म के लिये विशेष आग्रहशील हैं परन्तु ज्ञानहीन कर्म दुखः गर्त में डालता है। अतः ज्ञानी हो कर्म के गूढ़ रहस्य को जान कर सच्चा कर्मठ हो सकता है। ज्ञानी का कर्म अमृत है और अज्ञानी का कर्म गरल है।

सर्व श्री महात्मा गान्धी, महामना करपात्री जी, लोकमान्य तिलक, गुरु हेड, ग्वालवलकर आदि के कर्म रहस्यों का ज्ञान इस ग्रन्थ को पढ़ने वाला ही कर सकेगा। अनेक विचित्र प्रश्नों के उत्तर इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्राप्त होंगे। ब्रह्म राक्षस और विशुद्धि बुद्धि के प्रश्नोंत्तर बड़े ही मार्मिक हैं। उन प्रश्नोंत्तरों से तो गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ होती है। परमार्थ प्राप्ति के सभी साधन एवं सिद्धि इन प्रश्नोत्तर में आ गई है।

निष्कर्षतः ग्रन्थ परमोपयोगी है। सभी स्तर वाले इस से लाभ उठा सकते हैं। सर्व साधारण के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। वेदान्त का उच्चतम ज्ञान तथा बच्चों की सी सरल कहानियाँ इस ग्रन्थ में हैं। जो जितना ज्ञान रखता है वह उतना ही सार इस ग्रन्थ से निकालेगा। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध साहित्य सम्बन्धी और उत्तरार्ध दर्शनात्मक है। शुद्ध चैतन्य ही दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति संसार रूप में भासित होता है इत्यादि सिद्धान्तों का प्रतिपादन उत्तम ढङ्ग से किया गया है।

ग्रन्थ सर्वोपयोगी है यदि बहुज्ञों के लिये कण्ठहार है तो अल्पज्ञों के लिये भी भूषण है। साधारण शिक्षितों के लिये औपन्यासिक ढङ्ग से समझाया गया है। इसकी कथायें

रोचक सरल एवं अनुभव पूर्ण है। अपनी-अपनी बुद्धि से सभी लोग लाभ उठा सकते हैं।

ज्ञान के सम्बन्ध में कोई भी बात इस में छोड़ी नहीं गई है। ज्ञानियों को विभिन्न स्थितियों का वर्णन इस में बड़े रोचक ढङ्ग से आया है। ब्रह्मावतार की नई उद्भावना हुई है। इस अध्याय में ६ प्रश्नोत्तरों द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का निचोड़ रक्खा गया है। इस प्रकार यह अद्वितीय ग्रन्थ आधुनिक संसार का गुरु मार्ग प्रदर्शक है। परमात्मा करे सम्पूर्ण विश्व इस ग्रन्थ के अनुसार चले और सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य हो जावे।

चेतन स्वरूप ब्रह्मचारी (ब्रह्म जी)
शान्ति भवन, हृषीकेश
जिला देहरादून

लेखक की अपनी बात--

सम्पूर्ण ग्रन्थ लिख गया पर अपनी बात क्या लिखूं ? सारे विश्व की बातें अपनी ही बातें हैं और सारे विश्व की और विश्वपति की बातें ग्रन्थ में लिख ही गईं। अच्छा तो एक बात सुना ही दूं। मैं बाल्यावस्था में ही अपनी करुणा-मयी माँ के क्रोड से चिपक कर धार्मिक कहानियाँ सुना करता था। धर्मपरायणा माँ सन्तों और भक्तों की अद्भुत एवं रोचक कहानियाँ सुनाती, मैं भावों से भावित हो तदनुकूल अनुभव करता, कभी रोता, कभी हँसता था। कथा में कहीं भक्त पर विपत्ति आती तो खूब रोता और कहता माँ शीघ्र भगवान् को प्रकट करो। सन्तों के दर्शन मुझे बहुत प्रिय थे। सन्तों के समीप घण्टों बैठता था और कहता—बाबा जी ! हमें भी साधू बनालो, सन्त हमारी भोली बातों पर हँस दिया करते थे। मुझे बाल्यावस्था से ही यह पूर्ण निश्चय था कि मानव देह पाकर भी यदि अनवधानता कर गये तो फिर कहीं ठिकाना नहीं। अतः मैं बाल्यावस्था से ही परमार्थ पथ पर चल पड़ा। यह तो भगवान् ही जाने कि मैं अपना मार्ग पूरा कर चुका हूँ या नहीं ? पर मैं तो अपने मार्ग पर यथाशक्ति प्राण पण से बढ़ने का यत्न कर रहा हूँ।

त्रय-ताप तापित जीव ८४ लक्ष योनियों में भटक कर करुणा वरुणालय की अहैतुकी करुणा से मानव शरीर पाता हैं। यह शरीर केवल प्रभु प्राप्ति के लिये ही प्रभु ने बनाया

है। इस सुअवसर को खो देने वाला मनुष्य अभागा है, शास्त्रकारों ने उस व्यक्ति को "आत्महा" कहा है।

इस ग्रन्थ के आदि में जो वन्दे देवं जलधिशरधिं ····· इत्यादि श्लोक आया है वह मुझे परम प्रिय है। उसकी प्रियता का कारण यह है कि प्रायः मैं भ्रमण करता हुआ देवहूती नदी के तट पर एक उच्च स्थान पर ठहर जाता हूँ। वहीं एक दिन प्रभातकाल में स्वप्न हो या जाग्रति, यह मैं अब तक निश्चय नहीं कर सका। इस श्लोक से शिव की स्तुति कर रहा था, उसी क्षण श्री कृष्ण के मनमोहक विग्रह का दर्शन हुआ। चेतनावस्था में आने पर मैंने अपने को अश्रुप्लावित दशा में देखा। दूसरे वर्ष उसी स्थान पर स्वप्नावस्था में आत्मसाक्षात्कार हुआ। उस समय ब्रह्मा काराकारित वृत्ति बनाता हुआ तत्प्रति फलित चेतन का आनन्दमय अनुभव करता रहा। इस प्रकार के अन्य अनेक अनुभव होते रहे, जो कभो अवसर पर कहे जा सकेंगे। निजी अनुभवों के अतिरिक्त शास्त्रीय अनुभवों पर उतरने का तो जीवन भर प्रयत्न रहा। शान्त एकान्त अल्पभाषी हमारा स्वभाव है। परन्तु भक्तों के आग्रह से कभी कभी शास्त्रीय चर्चा भाषण रूप में कर लेता था। शनैः शनैः यह प्रवचन व्यसन बढ़ता गया। इन प्रवचनों से प्रभावित होकर अधिक सन्निधि में रहने वाले भक्तों ने मेरे विचारों को ग्रन्थाकार करने का आग्रह किया। ग्रन्थ लिखने का तो कभी विचार ही नहीं किया अतः उपेक्षित रहा।

इस पुस्तक में अनेक ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ा, उन पूर्वज आचार्यों के हम सदैव कृतज्ञ रहेंगे जिनकी विभूति से

ही सम्पूर्ण साहित्य लिखा जा रहा है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, महाभारत, त्रिपुरा रहस्य आदि का सहारा लिया गया। सत्य तो यह है कि इसमें मेरा कुछ है ही नहीं, उन्हीं व्यास, वाल्मीकि, हरितायन आदि महापुरुषों का प्रसाद है। उनके ही आनन्दकणों को बीन कर एक स्थान पर एकत्रित मात्र कर दिया। इस पुस्तक का श्रेय सभी सहृदय साधु भक्तों को है।

भगवान् जिसे निमित्त बनाना चाहते हैं उसे बना लेते हैं, मैं तो महाभारत विजय में अर्जुन की भाँति पुस्तक लेखन में निमित्त ही हूँ। सच्चा कर्ता तो वह प्रभु ही है। इस पुस्तक से यदि किसी भी व्यक्ति का कल्याण हो जावे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। वैसे मेरी दृष्टि से तो पुस्तक को मनन करने वाला एक वर्ष में ही कुछ से कुछ हो जावेगा। मुझे निश्चय है कि इस ग्रन्थ की गूढ गुत्थियों को सुलझा लेने वाला भवसागर से पार हो जावेगा। इस ग्रन्थ की एक भी बात यदि जीवन में उतर गई तो मानव शरीर सफल हो जावेगा।

प्रभु ने जो कराया वह मैंने कर डाला अब वही नटखट मायावी घनश्याम जाने, जैसा चाहें वैसा करें।

जिन सज्जनों ने आर्थिक एवं बौद्धिक सहयोग दिया है, वे सब अपने हैं तथापि हम उन्हें आशीर्वाद दिये बिना नहीं रह सकते।

—स्वामी स्वयम्भू तीर्थ

प्राक्कथनम्

विवेकादि साधनवद्भिरेव सफला ब्रह्मविद्या लभ्यते ।

क्लेश प्रवाह पूरिते मायावर्तावृते कामक्रोधादि हिंसक जन्तु सङ्कुले भव वारिधौ पतितानां त्रयताप तापितानां जीवानां ब्रह्मात्मतत्व विज्ञान पोतादेव समुद्धारः । ब्रह्मविज्ञान पोत लाभस्तु विवेकादि साधनैर्भवति । येन मानव शरीर-मासाद्यापि यदि साधन सम्पति नं संपादिता तस्य तु निरर्थकं जीवनम् । ब्रह्मविज्ञान प्राप्तौ साधनचतुष्टय सम्प्राप्तिरेव परमं साधनम् । साधन सम्पदं बिना तद् विज्ञानं सफलयितुं यः इच्छति सोऽति मूढः । उक्तं च···

मातुरङ्के समासीनो गृहीतुं चन्द्रमिच्छति ।
बालो यथा तथैवाज्ञो विज्ञानं साधनैर्विना ॥१॥

विषयेऽस्मिन्निदमाख्यानं श्रूयते । एकदाऽश्विनीकुमारौ देव भिषजौ ब्रह्मज्ञानिनो महर्षेर्दधीचः वेदादि शास्त्रमधीत्य ब्रह्म-विज्ञान श्रवणस्य च जिज्ञासां कृतवन्तौ । महर्षिणा साधन शून्यत्वात् ताभ्यां नोपदिष्टा ब्रह्मविद्या । उक्तं च···यदा भवन्तौ साधन सम्पन्नौ भविष्यतः तदा ब्रह्म-विद्यामुपदेक्ष्या-मीति, तौ विचारितवन्तौ, वस्तुतः स एव ब्रह्मविज्ञानस्या-धिकारी यो विवेकादि साधन सम्पन्नः ।

अतएव विवेकादि साधन सम्पत्तिरेवावश्यं सम्पादयि-तव्या, इत्यवधार्य महर्षिसमीपात् निर्जग्मतुः ।

अथ कदाचित् देवराज इन्द्रोः महर्षे र्वीतरागस्य दधीचः प्रशंसां श्रुत्वा तदाश्रममाजगाम । महर्षिणा तस्यातिथ्यं कृतम् । स्वागतं महाभाग ? किन्ते प्रियं करवाणि इतितं पप्रच्छ, मह्यं ब्रह्मविद्यामुपदिश इत्युक्तं देवराजेन । किं भवान् तदधिकारी जातः ? महर्षिणा मन्देनोक्तम् । अनेन किं प्रयोजनम् ? ब्रह्मविद्यया स्वयमाधिकारित्वं प्रादुर्भविष्यति इति सगर्वः शक्रः प्रोवाच । तत्वदर्शिना मतिमता ब्रह्मर्षिणा-मनसीदं समालोचितम्, अयं किल देवराजो विवेकादि शून्यः विषय लोलुपः दुराग्रही च नास्ति ब्रह्मविद्याधिकारीति । अथ तावदादौ वैराग्यं जनयितुं महर्षिणोक्तम् । हे देवराज ! जीवनं ते तुच्छ शूकर तुल्यं, अतस्त्वम् न ब्रह्मविद्याधिकारी । तवाशुचि शूकरस्य च सुख दुःखञ्च समानमेव। यथा यावती शूकराय विष्ठाऽस्वाद्या प्रियाच तथैव तावती भवते सुधा स्वादिष्टा वल्लभाचास्ति यथा भवता शची रम्भादयप्सरस-आलिंग्य च यावती मात्रायां सुखमनुभूयते । तथैव शूकरेणा ऽपि शूकरीमालिंग्य च तावती मात्रायां सुखमनुभूयते । देवराज ! त्वं यथा विष्ठाशूकरीं च विलोक्य तत्र घृणां कृत्वासमुद्विजते तथैव शूकरोपि सुधां शचीं च विलोक्य तथैव करोति । एवं मृत्युत्रासो पि समानमेव । रागद्वेषाधीनत्वमपि तुल्यमेवोभयोः । एवं तव जीवनं तुच्छं शूकर-जोवन तुल्य-मेव । विवेक साधनैर्विना न भवान् ब्रह्मविद्याधिकारी । "पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।" इव स्वस्यैतादृशीं

निन्दां श्रुत्वा देवेन्द्रो महर्षिं प्रति चुकोप, "नायं ब्रह्मविद्या-चार्यः" अपितु कश्चिच्छत्रुपक्षीयो गुप्तचरः। इति विनिश्चित्य परुषवाक्यैः ऋषिन्निर्भत्स्योक्तम्, भो कपटमुने! अद्या-रभ्य कस्मैचिदपि ब्रह्मविद्या नोपदेष्टव्या। यदि मदीय वचन परिपालनं न भविष्यति तदा तव शिरः वज्रेणैव पोथयि-ष्यामि। इत्युक्त्वा स आश्रमादपससार।

अथ कियत् कालानन्तरं अश्विनी कुमारौ साधनसम्पदं सम्पाद्य प्रतिनिवृतौ, महर्षि मुखात् विदित वृतान्तौ तावूचतुः अथ च किं भविष्यति किल? भवता तु प्रतिज्ञातं यदा साधन सम्पन्नौ भवन्तौ भविष्यतः तदा ब्रह्मविद्यामुपदेक्ष्या-मीति। सत्यवादिनोभवतः प्रतिज्ञा मिथ्या भवितुं नार्हति। जीवनादपि सत्यपालनं गरिष्ठं। महर्षिणोक्तं ब्रह्मविद्या-मुपदेक्ष्यामि, परन्तु न जाने सा पूर्णा भविष्यति न वा? मध्य एव देवेन्द्रो यदि शिरश्छेत्स्यति तदा किं भविष्यति। अश्विनीकुमारावुपायं विचिन्त्योचतुः, यथा भवतः सत्य वचनस्य शिरसश्चरक्षणं स्यात् तदेव कर्तव्यं, अथ तावत् इदानीं तव शिरच्छित्वा अन्यत्र निधाय अश्वशिरस्त्वयि संयोज्यते। आवयोसंजीवनी विद्या प्रभावेण जीवनं लब्ध्वा तेनाश्वशिरसा, आवाभ्यां ब्रह्मविद्योपदेष्टव्या। यदा च देवराजस्य वज्रेण तव शिरश्च्छेदः भविष्यति तदा भवतः स्वाभाविकं शिरः संयोजयिष्यावः। तथैवास्तु इत्येवमनुज्ञाते सति अश्विभ्यां तथैव कृतम्। महर्षिणा ताभ्यामश्वशिरसा मधु ब्रह्मविद्यां समुपदेष्टुं प्रारेभे। तद्ज्ञात्वा इन्द्रो वज्रेण तदश्वीयं शिरः अच्छिनत्। अश्विभ्यां मानुषीयं शिरः समधत्ताम्। तदनन्तरं स्वशिरसा शेषां ब्रह्मविद्यामुपदिदेश।

इत्याख्यानेन सिध्यति ब्रह्मविद्यानोपलभ्यते साधनैर्विना। साधनहीनो देवराजो मौढ्यान्महर्षि द्वेषं कृत्वा पुरुषार्थं भ्रष्टोऽभूत् ।

अथ च प्राक् मानव शरीरेण विवेकादि साधनानि सम्पादितव्यानि, तदनन्तरं ब्रह्मविज्ञानस्य ज्ञानं भविष्यति ।

स्वामी स्वयम्भू तीर्थं

अनुक्रमणिका

अनन्त श्री स्वामी स्वयम्भूतीर्थ परिव्राजकाचार्याः
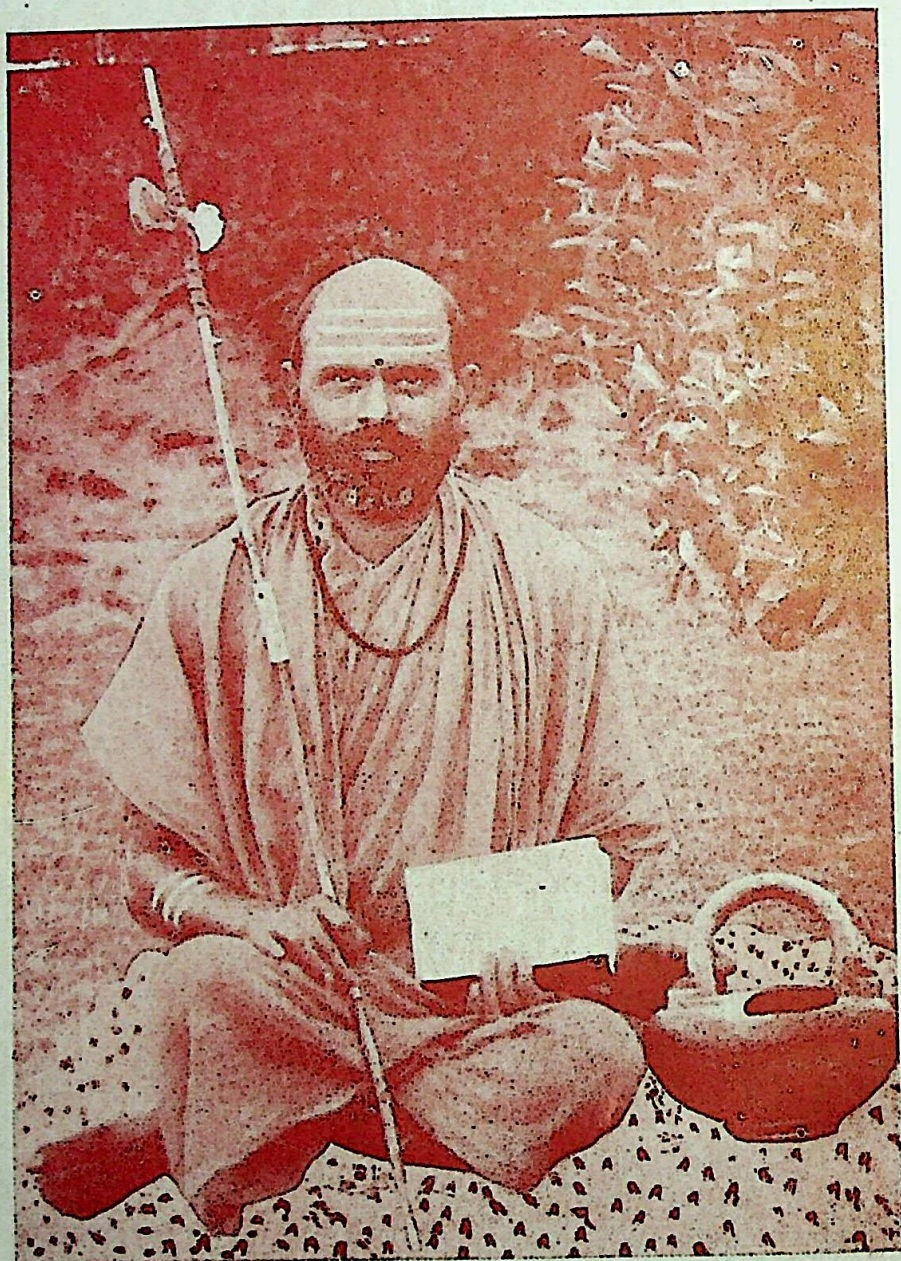
वेदान्तसिन्धुं परिलोड्ययत्नैः, यो ब्रह्मविज्ञान सुधासुकुम्भम् ।
नीत्वागतः लोकहिताय भूमौ, तीर्थोत्तरः स्वामिवरः 'स्वयम्भू': ॥

प्रथमोऽध्यायः

ब्रह्मविज्ञान का मूलस्रोत

॥ मंगलाचरणम् ॥

वन्दे देवं जलधिशरधिं देवतासार्वभौमम्,
व्यासप्रष्ठाः भुवनविदिताः यस्यवाहाधिवाहाः ।
भूषापेटी भुवनमधरं पुष्करं पुष्पवाटी,
शाटीपालाः शतमखमुखाश्चन्दनद्रुर्मनोभूः ॥

यः पूर्णानन्द-मग्नोऽप्यनुगतमनसां वल्लवीनां विधेयो,
यश्चेन्द्रादेर्नियन्ता विजयहयतनुं मार्जने सावधानः ।
यश्च श्रीशः सुदाम्नः पृथुककणगणात्यादरः स्वादयुक्तः,
तस्य श्रीपादुकायाः भवतु कृतिरियं मालिका मल्लिकायाः ॥

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठम्,
शक्तिंच व्यासं शुकगौडपादौ ।
गोविन्दपादं गुरुशङ्करञ्च,
पद्मं सुरेशं सकलान्नमामि ॥१॥

श्रीविष्णुदेवं सुखशान्तिरूपम्,
हरिं महामोहविनाशकारम् ।
हरं तथानन्दसरस्वतीं शुभाम्,
तीर्थं पवित्रं मनसा स्मरामि ॥२॥

ज्ञानाद्विहीनोऽपि गुरुप्रसादा—
ल्लभामहे नूनमिदंमहत्वम् ।
पंकस्य कीटोऽपि सुपुष्पसङ्गा—
दाप्नोति भालं वृषवाहनस्य ॥३॥

विद्यावियुक्तस्त्रयतापयुक्तः,
मार्गे मुनीनां मन आदधामि ।
कृतञ्च यत्तत्परकीयमेव,
सत्यं कलेः जीवस्वभाव एषः ॥४॥

वेदान्तसिन्धुं भ्रमभूरिपूर्णम्,
सच्छिद्रया क्षुद्रतरीधियाऽहम् ।
पारं चिकीर्षुर्मम मोह एषः,
खद्योतदीप्तिर्ननिशातमोयथा ॥५॥

स्वान्तःसुखाय लिखितां शुचिब्रह्मविद्यां,
श्रद्धाविवेकबलिनः पुरुषा अधीत्य ।
नूनं विहाय कलिकुञ्जरभूरिभीतिम्,
तेजस्विनो मृगपतेः पदतां लभन्ते ॥६॥

सर्वेषु दुःखेषु जगद्गतेषु,
कर्त्तव्यतैवास्ति विशालदुःखम् ।
तस्यां स्थितौ नैव सुखातिरेकं,
तस्माच्च तन्नाशविधिर्विधेयः ॥७॥

'महाभाग ! समय हो चुका, ऋषिगण प्रतीक्षा में हैं ; कथामृत पिलाने में आज विलम्ब क्यों ?' ऋभु ने श्री सूत की पर्णशाला में प्रविष्ट होते हुए कहा ।

'ऋभो ! चलो चलता हूँ' सूतजी अन्यमनस्क भाव से बोले ।

'श्रीमन् ! आज वाणी में शैथिल्य तथा सदैव प्रफुल्ल रहने वाले मुख पर औदास्य क्यों ? क्या हम लोगों से कोई अपराध तो नहीं हो गया ?' ऋभु यह कह कर व्यग्र हो उठे ।

'नहीं, तुमसे कोई अपराध नहीं हो सकता। मैं आज विचार मग्न रहा, अतएव निद्रा की सुखद गोद से वञ्चित रहा, इस समय मेरा चित्त प्रसन्न नहीं है ; मैं आज दुखी हूँ'। सूत जी क्षुब्ध वाणी में कह गये।

'क्या मैं आपके दुःख का कारण जान सकता हूँ ?'

'चलो ऋभु ! शौनकादि सभी ऋषियों के समक्ष मैं अपनी क्षुब्धता का कारण बताऊँगा।' इतना कहकर सूत जी अपनी पर्ण-शाला से निकल कर व्यासासन की ओर चल दिये।

कदली दलों से आकुञ्चित व्यासासन के चतुर्दिक् ८८ सहस्र ऋषिवर समुपस्थित थे ; सूत जी को देखकर खड़े हो गये। सूतजी शान्त भाव से व्यासासन पर बैठ गये। सूत जी एवं ऋभु के मुखों को देखकर ऋषिगण समझ गये कि सूत जी का हृदय आज विकल है। वह अवश्य ही कोई गम्भीर बात कहेंगे।

सूत जी कहने लगे.........'ऋषियो ! पुराणों का श्रवण कराते हुए मुझे बहुत काल व्यतीत हो चुका है। मैं सदैव सच्छास्त्रों का मनन करता हूँ, परन्तु मुझे शान्ति नहीं मिली। मेरा हृदय अपूर्णता का अनुभव कर रहा है। मेरा ज्ञान अधूरा है, मैं अपूर्ण हूँ, इसका अनुभव मुझे कल रात्रि में हुआ। अतः अत्यधिक क्षुब्ध हूँ। मैंने निश्चय किया है कि कहीं पूर्णता का अन्वेषण करूं।' इतना कह कर सूत जी मौन हो गये।

सूत जी से ऋषिप्रवर शौनक विनम्रता से बोले, 'महाराज ! आज आपकी व्यथा भरी आत्मकथा को सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ; क्या आप अपूर्ण हैं ? आप तो साक्षात् ज्ञान-भास्कर हैं। आप की कथा-किरणों से ऋषिमंडल-कमल सदैव प्रफुल्लित रहता है। आपके अन्यत्र जाने से हम लोग कैसे रह सकेंगे ? आप जैसे पूर्णज्ञानियों को भी अशान्ति ?'

'शौनक ! तुम नहीं समझते, मैं अपूर्ण हूँ। ज्ञान-सूर्य के उदय होने पर क्षुब्धता और अशान्तिरूपी तम नहीं रहता। मुझ में

विकलता और अशान्ति है, अतः मैं पूर्ण ज्ञानी नहीं हूँ। तुम सभी यहीं पवित्र नैमिष क्षेत्र में स्वाध्याय करो। मैं उस ज्ञानतत्व को प्राप्त करने जा रहा हूँ, जिसको प्राप्त करने के उपरान्त कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। इसके लिए मुझे गुरुवर श्रीवेदव्यास जी के बदरिकाश्रम में जाना होगा। परमज्ञानी ब्रह्मतत्त्वज्ञ पूज्य गुरुदेव के अतिरिक्त कोई भी मेरी जिज्ञासाग्नि को शान्त नहीं कर सकता। अतः मैं अब इसी क्षण यहाँ से जा रहा हूँ।' इतना कहकर सूत जी उठकर चल दिये।

ऋषिगण निस्तब्ध थे, महाभाग सूत पूर्ण होने जा रहे हैं। यह हर्ष होते हुए भी ऋणिगण सूत जी के वियोग में नयनों से गङ्गा-यमुना की धारायें बहा रहे थे।

× × × ×

बदरिकाश्रम में एक गुहा है जो वेदान्ततत्त्व की भाँति गुह्य ब्रह्म की भाँति शान्त, चन्द्र सी शीतल और भागीरथी सी पवित्र है। उसी में भगवान् वेदव्यास ब्रह्मतत्त्व में डूबे तपश्चर्या में निरत हैं। नित्य की भाँति आज भी योगी के मस्तक सी आयत पाषाण शिला पर वेदव्यास जी आकर आसीन हो गये। निर्झर के झरझर मय सङ्गीत को 'अनहदनाद' की भाँति सुनने लगे। शीतल वायु देवदारु के कुञ्जों को शङ्कर सन्देश सुना रही थी। सिद्धासनस्थ व्यास जी ने दूर तक दृष्टि दौड़ाई, कोई प्ररिचित सा आत्मीयजन गिरता पड़ता आत्मोन्मुखवृत्ति की भाँति ऊपर आ रहा है। कुछ ही क्षणों में सूत श्री व्यास जी के चरणों के नीचे साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे थे।

श्री वेदव्यास जी ने कहा—'वत्स ! उठो, सूत ! तुम यहाँ कैसे आये ?'

इस प्रकार अमृतमयी वाणी से सूत की चेतना जाग्रत हुई। वह गद्‌गद् कण्ठ से कहने लगे—'गुरुवर ! त्रयतापतापित मुझ दीन की रक्षा कीजिये।'

❁ महर्षि वेदव्यास तथा सूत ❁

'पुराणाचार्य सूत ! तू इतना मलिन क्यों है ? तुझे तो मैंने इतिहास-पुराणों का पूर्ण ज्ञान प्रदान कर दिया, अब क्या चाहिये ? पुराणों का अध्यापन तो सम्यक् रूप से हो ही रहा है न ? तू इतना दुखी क्यों है ?' व्यास जी गम्भीर मुद्रा में कह गये।

सूत व्यथित वाणी में बोले—'देव ? मुझे नहीं ज्ञात है कि मैं इतना दुखी क्यों हूँ। मुझे अनुभव हो रहा है कि मैं अपूर्ण हूँ। मुझे वह विज्ञान दीजिये, जिसे पाकर कुछ पाना शेष न रहे। मैं ब्रह्मदेव का माहात्म्य सुनना चाहता हूँ, उसके सुने बिना एवं ज्ञान तत्व प्राप्त किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। पुराणों का इतना पाठ करने पर भी मेरा हृदय परम अशान्त है। जगज्ज्वाल-ज्वालित हृदय को अपने कृपामृत से सिञ्चित कीजिये।'

व्यास जी के स्निग्ध मुख-मण्डल पर मुस्कान फैल गई। वह बोले—'सूत ! उठो, स्नान करके फल खाओ, विश्राम करो। तदनन्तर हम तुम्हें ब्रह्मदेव का माहात्म्य सुनायेंगे।' श्री वेदव्यास जी तथा सूत दोनों उठ खड़े हुये।

× × ×

ज्ञान-मुद्रा में सिद्धासनस्थ श्री वेदव्यास जी ने शब्दार्थ रसमयी शारदा का आवाहन किया। गुह्यातिगुह्य तत्वस्वरूपा परा वाणी वैखरी रूप में आविर्भूत हो गई। गम्भीर अर्थरूप कल्लोलों से कल्लोलित शब्दसरिता प्रवाहित हो उठी। वे बोले—'परात्पर परब्रह्म आनन्दमय, अमर्याद शुद्ध चैतन्य ब्रह्मदेव को प्रणाम है। जो स्वयं दर्पण बन कर संसार रूप अद्भुत चित्र को प्रतिबिम्ब रूप में दिखाता है। हे सूत ! ब्रह्मदेव के माहात्म्य से तेरा हृदय आप्लावित हो ही गया है। माहात्म्य से भावित हृदय लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः माहात्म्य श्रवण ही मोक्ष का मुख्य साधन है। जिस ज्ञान तत्व का तुमने माहात्म्य सुना है, वह

परमानन्द का विषय है। उस ज्ञान तत्व को श्रवण कर मानव के दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। यह 'ब्रह्म विज्ञान' वैदिक, वैष्णव, शाक्त, पाशुपत इत्यादि ग्रन्थों का उत्तम सार है। अन्य कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है, जो इस प्रकार हृदयङ्गम होकर यावद् दुःखो का नाश कर सके। इस उत्तम ज्ञान के योग से भी यदि किसी व्यक्ति को स्वरूप-बोध नहीं होता तो उसे केवल पाषाण समझना चाहिये।'

इस प्रकार श्री वेदव्यास द्वारा 'ब्रह्म-विज्ञान' की प्रस्तावना श्रवण कर सूत का अन्तःकरण प्रेम-प्लावित हो गया। उसका हृदय अपूर्व सुख की लहरों से लहराने लगा। वह कुछ क्षणों को स्तब्ध हो गया। उसके नेत्र आनन्दाश्रु से भर गये। शरीर पुलकाङ्कुरों से व्याप्त हो गया। वह गद्गद् कण्ठ से बोला—'प्रभो! आप की कृपा से मैं धन्य हो गया हूँ, मुझे निश्चय हो रहा है कि करुणावरुणालय, ज्ञानवारिधि, साक्षात् शिवस्वरूप श्री गुरु वेदव्यास के सन्तुष्ट होने पर इन्द्रपद भी नगण्य है।'

सूत जी की प्रेममग्न अवस्था से श्री व्यास जी का हृदय उमड़ पड़ा; आनन्द-आरुण्य की स्मितमयी रेखा खिंच गई। उन्होंने समझ लिया, अब सूत 'ब्रह्मविज्ञान' का अधिकारी हो गया। व्यास जी मधुर वाणी में बोले—'मैं तुम्हें ज्ञान का गूढ़ तत्त्व बताऊँगा, परन्तु इससे पूर्व इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक रहस्य बताता हूँ। इस रहस्य से तुम इस विज्ञान का पूर्ण महत्त्व समझ सकोगे। इस ब्रह्मविज्ञान नद का मूल स्रोत किस पर्वत की दुर्घट घाटी से प्रादुर्भूत हुआ? यह तिरोहित अनादि विज्ञान-भास्कर आदि में किन महापुरुषों के हृदय गगन में आविर्भूत हुआ? इस तत्त्व को समझाने के लिये मैं अपनी पूर्व गुरु परम्परा सुना रहा हूँ।'

'एक बार लोक पितामह परमतत्त्वज्ञ ब्रह्मा जी चिन्ताक्रान्त हुए। वे विचारने लगे—पुत्रवत् मेरी सृष्टि को मेरा अनादि वेद विज्ञान

किस प्रकार प्राप्त हो? मेरे अद्भुत अपूर्व ज्ञान का रहस्य मानव कैसे हृदयङ्गम कर सके ? इस अभूतपूर्व ज्ञान-सुधा को मानव जाति किस प्रकार पान कर सके, इत्यादि चिन्ताओं से पीड़ित हो ब्रह्मा जी विमनस्क हो उठे। उन्होंने अपनी आदिम सन्तान का ध्यान किया। नेत्रवृत्ति अन्तर्लीन हो गई। उसी क्षण ब्रह्मवृत्तिवत् शान्त, कोपीन-वन्त चारों वेदों के साकार स्वरूप सनकादि मुनि ब्रह्मा के सन्मुख समुपस्थित थे। सनकादि ऋषि करवद्ध बोले—'पितृवर ! आपके प्रफुल्ल वदन मलिन क्यों ? क्या आपको भी चिन्ता पिशाचिनी ने आक्रान्त कर लिया है ? सर्वशक्तिमान् को भी अभाव की अनुभूति ! क्या मैं आपके औदास्य भाव का कारण जान सकता हूँ ?'

कमलयोनि के अमल कमल नयन खुल गये। वे बोले—'वत्स ! मेरे सुखद निर्मलज्ञान का वितरण त्रय-ताप-सन्तप्त जीवों में करो। तुम सबमें चारों वेदों का ज्ञान स्वयं प्रादुर्भूत हुआ है। तुम स्वयं वेद स्वरूप हो। अतः वेदों के निगूढ रहस्यों का प्रचार करो। इस ज्ञान से जीव सृष्टि को आप्लावित कर दो।'

ब्रह्मा के गम्भीर घोष को सनकादिकों ने ध्यान से सुना। विनयावनत हो ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य की, 'विनम्रवाणी में बोले—'तात ! आपके पवित्र आदेश का यथाशक्ति पालन होगा।'

यह कहकर ब्रह्मा की चरण-रज से शिरस्नात हो सनकादि ब्रह्म लोक से उतर आये।

उत्तम-मध्यमादि अधिकारी भेद से सनकादिकों ने वेद का ज्ञान पूर्ण रूप से प्रदान किया। अनेक अज्ञानियों की तमोराशि अपने ज्ञान-भास्कर से विध्वंस कर दी। भव-सिन्धु में गोते खाने वाले अनेक को बोध-पोत से पार किया। अज्ञानान्धकार में भटकने वाले असंख्यों को देदीप्यमान उज्ज्वल प्रदीप दिखाया। इस प्रकार सन-कादिकों ने लोक-पितामह की आज्ञा का पूर्ण पालन किया।

एक दिन एकान्त में उन्होंने विचार किया कि क्या इस प्रकार सभी को शान्ति प्रदान करने वाले मुझमें परम शान्ति है ? संसार

का उद्धार करने वाले मेरा क्या उद्धार हो चुका है ? त्रयताप-तापित मानवों का ताप निवारण करने वाले मुझमें क्या ताप शेष नहीं है ? कर्त्तव्यता निःशेष करने का अभिमान करने वाले मुझमें क्या कर्त्तव्यता नहीं है ? सनकादिक अपने हृदयों को टटोलने लगे। सूक्ष्म विचार करने पर उन्हें निश्चय हुआ कि हमारी अशान्ति पूर्ववत् है। ज्ञान दान देकर भी हम ज्ञान-फल आत्मनिष्ठा से वञ्चित हैं। वेद का रहस्य कथन करने पर भी उस अद्भुत रहस्य से अनभिज्ञ हैं। मेरा ज्ञान परोक्ष है। बिना अपरोक्ष ज्ञान के मैं अपूर्ण हूँ, अशान्त हूँ। वे चिन्तित हो उठे।

"ओह ! मैं कितना मूढ हूँ ? अल्प बाह्य ज्ञान से ही कृतकृत्यत्व की अनुभूति करने लगा। अहा ! हा ! कितनी विडम्बना है। संसार के समक्ष वेदवेत्ता एवं तत्व साक्षात्कार-कारी का नाटक करने वाले मुझे धिक्कार है। इस बिरक्तावस्था की भी अपकीर्ति करने वाले मेरा कैसे उद्धार हो ? साधु वेष का आडम्बर मात्र ही मेरा स्वरूप है। तप से लोक-परलोक में गमनागमन, साँसारिक ऐश्वर्यों को उत्पन्न कर देना, संकल्प-सिद्ध होना एवं अणिमादि सिद्धियों से ही लक्ष्य सिद्धि मान बैठना कितनी मूढता है ? इन सिद्धियों का ज्ञान वस्तुतः अज्ञान है। क्योंकि यह ज्ञान आत्म-स्थिति में बाधक है। ओह ! मैं अज्ञानी होकर भी ज्ञान का दम्भ करता रहा।" सनकादिक विक्षिप्त हो उठे। उनके हृदय में दुःख का सागर उमड़ पड़ा। वे विषाद की वह्नि में जलने लगे।

'इतना परोपकार करने का यह प्रत्युपकार ! ज्ञान-दान का यह फल ! वे विचार करने लगे यह हमारा ज्ञान पूर्ण है सभी रहस्य मुझे ज्ञात हैं। सभी तत्व मुझे प्रत्यक्ष हैं। फिर यह अशान्ति क्यों ? ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म क्यों नहीं हुआ ? इस हमारे ज्ञान से अपरोक्षानुभूति क्यों नहीं हुई ? विचारों में गम्भीर गोते लगाने पर उन्हें निश्चय हुआ कि बिना गुरु के यह ज्ञान प्राप्त हुआ। स्वयं प्रादुर्भूत होने वाले

वेद ज्ञान को भी गुरु की आवश्यकता है। बिना गुरु के विद्या सफल नहीं होती। स्वतः सिद्ध ज्ञान भी ज्ञान के पूर्ण फल तत्व साक्षात्कार को नहीं देता। हम लोग सकल वेद वेदाङ्ग पारङ्गत होकर भी आत्म स्थिति नहीं कर सके।' चारों ऋषि गुरु अन्वेषणार्थ चल पड़े।

'उत्तराशा में पर्वतों की उपत्यकाओं को पद दलित करते हुए अशान्ति की झञ्झावात से प्रेरित 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के साक्षात् स्वरूप गुरु की शरणागति को जा रहे थे।'

× × ×

कैलाश की धवल सुरम्य शृङ्ग श्रेणियों पर सनकादिक भ्रमण करने लगे। मानों चार भस्म विहीन दीप्ताङ्गार हिम के शैत्य को शान्त कर रहे हों। किंवा सप्तर्चि की चार शिखायें गृहस्थों एवं विरक्तों द्वारा अनुपयोगी होकर खेद खिन्न, हिमालय पर तप करके शान्ति पाने आई हों। एक रमणीय अत्युच्च शिखर पर सनकादि ऋषियों ने विराम लिया।

वहाँ का वातावरण उन्हें परम शान्त और सुखमय प्रतीत हुआ। 'अहा! हा! यहाँ तो यह वटवृक्ष है। यहाँ बैठकर लक्ष्य-सिद्धि का विचार करना चाहिये। यहाँ की शोभा अवर्णनीय है। धवल हिम-शृङ्गों के बीच यह पादप धवल मुक्ताओं के बीच मरकत मणि सा प्रतीत होता है। पाटल, नवल, मृदुल पल्लवों से पूर्ण वह वट पादप इस प्रकार प्रतीत हो रहा था मानों मखमली हरित वितान में अरुण पद्मराग मणि-पुञ्ज जटित हो।

वटवृक्ष के नीचे विशाल स्फटिक शिला पर चारों ऋषि आसीन हो गये। सामने निर्झर की झर्झर ध्वनि में सस्वर सङ्गीत सुना रहा था। वायु नन्दन वन से अञ्चल में लाये हुये पुष्प सौरभ के भार से परिश्रान्त हुआ वट की शीतल छाया में विश्राम ले रहा था। उस शान्ति साम्राज्य में सनकादि परम शान्ति के लिये अशान्त थे।

कैलाश के समक्ष मनोरम मानसरोवर नयनों को सुख दे रहा था। शान्त स्वच्छ जल पूर्ण वह सर प्रकृति सुन्दरी का दर्पण सा

प्रतीत होता था। उसके चारों तटों पर राज मराल मुक्ता चुग रहे थे। कैलाश शिखर को सरोवर ने अपने अन्तःकरण में धारण कर लिया था। मरालों की पंक्तियों का प्रतिबिम्ब कैलाश की वकुल-कुसुम कोरकावनद्ध रमणीय माला की शोभा को उत्पन्न कर रहा था। सरोवर में कैलाश का प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो पुष्पमाला से अलंकृत कैलाश जलमग्न तप कर रहा हो।

सनक बोले—'सनातन ! गुरु प्राप्ति का उपाय सोचा ?'

'तप ही अलभ्य वस्तुओं की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।' सनातन ने दृढ़ता से कहा।

सनन्दन बोले—'आदि जन्मा हम लोगों का कौन गुरु हो सकता है ? सभी तो हमारे अनन्तर हुए।'

सनत्कुमार कहने लगे—'तपशक्ति से गुरु प्रकट हो सकते हैं। हम लोगों का तप ही कर्त्तव्य है। तप से ही यथेष्ट गुरु प्राप्त हो सकते हैं।'

सनन्दन पुनः बोले—'तात ! हम लोग किस प्रकार कैसे गुरु के लिये तप करें ? गुरु का क्या लक्षण है। उनमें क्या क्या योग्यतायें अनिवार्य हैं ?'

'तुम स्वयं सर्वज्ञ हो। हम चारों का ज्ञान तुल्य है तथापि तुम लोकोपकार के लिये पूछ रहे हो। अतः सुनो—मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूँ।' सनक बोले।

'तात ? गुरु कैसा हो ?'

'जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है, वही गुरु बनाने योग्य है ?'

'हे तात ! श्रोत्रिय किसे कहते हैं ? ब्रह्म निष्ठ कौन होता है।'

'श्रद्धा एवं गुरु-सुश्रुषा पूर्वक श्रुति के यथार्थ अर्थ का अध्येता, तथा श्रुत्यर्थ को याथा तथ्य अन्य के हृदय में उतारने में पूर्ण समर्थविप्र हो, श्रोत्रिय है। और स्वरूपस्थिति से प्रतिक्षण अच्युत रहना ब्रह्म-निष्ठता है। ऐसा गुरु जन्मजन्मान्तरों के अन्धकार को क्षण भर में कृपा दृष्टि से नष्ट कर देता है।'

ऐसा विचार कर चारों तप में संलग्न हो गये। योग्य गुरु प्राप्ति के लिये सभी ने समाधि लगा ली।

× × ×

सनकादि के तपः प्रभाव से शङ्कर की समाधि में क्षोभ हुआ। वह जाग्रत अवस्था में आकर विचार करने लगे—'ओह! सनकादि ऋषि गुरु के लिये सहस्रों वर्षों से तप कर रहे हैं। उनकी अभिलाषा पूर्ण करनी चाहिये। उनकी भावना को भी परिवर्तित करना है। सनकादिकों को अनादि होने का गर्व है। वे विचार करते हैं कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने के कारण हम सबसे वृद्ध हैं। वृद्धायु अल्पायु को गुरु कैसे बनाये? उनके इस भाव को मिटाने के लिये मुझे बाल रूप में दर्शन देना है तथा उनमें वैखरी वाणी की प्रधानता है। अतः परावाणी जाग्रत करके स्वरूपस्थिति करवाना है। ऐसा विचार कर शङ्कर अपने आसन से चल दिये।

स्फटिक शिला पर आसीन चारों वेदस्वरूप अग्नि सदृश तेजस्वी सनकादिकों के हृदय में आज विशेष रूप से आनन्द की सरिता बह रही थी। उनका मन अभूत पूर्व विलक्षण सुखानुभूति कर रहा था। गाढ़तर ध्यान भी ऊपर उछल रहा था। उन्हें प्रतीत हो रहा था कि मानों आज उनका साध्य, परमश्रेय प्राप्त हो रहा है। सहसा उनके हृदय में एक धवल ज्योत्स्ना उद्भूत हो गई। नेत्र खोलने पर भी वही स्निग्ध चन्द्रिका सम्मुख थी।

सनकादिकों ने देखा—सामने श्वेत शिला पर परम शान्ति का साकार स्वरूप शत-शत ज्योत्स्नाओं से सघनीभूत दिव्य ज्योति बालक रूप में उपविष्ट है। उन्होंने निश्चय कर लिया हमारी तपश्चर्या से सद्गुरु प्रकट हो गये हैं। नेत्र वृत्ति से निकल कर सनकादि गुरु चरणों पर गिर पड़े। सुध बुध विस्मृत कर एक अपार आनन्द में डूब गये। उनकी असंख्य वर्षों की साधनायें सिद्ध हो गई। वे शङ्कर की शोभा निरखने लगे।

ज्ञान-मुद्रा में सिद्धासनस्थ, चन्द्रवदन बाल रूप शङ्कर समुपस्थित हैं। धूमिल जटायें स्कन्धों पर लटक रही हैं। कामदेव के भस्म की विभूति से लावण्यमय शरीर विभूषित है। मुखमण्डल पर मधुर मुस्कान क्रीड़ा कर रही है। अर्धोन्मीलित अरुण कमल-नयन कृपा की वर्षा कर रहे हैं। बाल रूप शिव मौन हैं, मानो परावाणी से ही उपदेश दे रहे हों।

कैलाश की मेखला में सरोवर के सम्मुख शान्त वातावरण में, प्रकृति के उन्मादी हास में, हिम के वैभव विलास में, स्फटिक शिलासीन शङ्कर की शोभा अवर्णनीय थी। स्वच्छ मानसरोवर में शिव समेत शङ्कर का प्रतिबिम्ब शिव की व्यापकता को द्योतित कर रहा था। कैलाश पर प्रकट शिव ऐसे प्रतीत होते थे मानों जलमग्न तपस्या करने पर कैलाश के हृदय में ज्ञान-प्रकाश उद्भूत हो गया है।

सनकादिकों ने आदि गुरु शङ्कर की मन ही मन स्तुति की। और उनकी ओर एक दृष्टि से देखते हुए शिव द्वारा दी जाने वाली परावाणी में उपदेश सुनने लगे। चारों मुनियों ने गुरु के अरुण चरण नख-ज्योति से अपने हृदय को देदीप्यमान बना लिया। कटितट पर नागों से अवनद्ध बाघाम्बर की शोभा से उनके हृदय में अपार साहस हुआ। नीलमणि सा देदीप्यमान कण्ठ देखकर वे पूर्ण आशान्वित हो गये। संसार का अविद्या रूपी विष पान करने वाले नीलकण्ठ अवश्य हमारा अविद्याविष पान करेंगे। भाल पर धवल क्षीण इन्दु-रेखा की सुषमा विलोक सनकादिक शोक विमुक्त हो गये। आत्म समर्पण करने वाले को चन्द्रवत् शिव का शीर्ष स्थान प्राप्त होता है। यह विचार आते ही उन्होंने श्री सद्गुरु चरणों में आत्म समर्पण कर दिया। आनन्द विह्वल हुये मुनियों ने शिव शीर्ष की गङ्ग तरङ्ग को देखा। जो हृदय सद्गुरु को समर्पण कर दिया जाता है, उसमें ज्ञान गङ्गा का प्रवाहित न होना असम्भव है। सनकादिकों के अन्तःकरण में 'ब्रह्मविज्ञान' का स्रोत फूट पड़ा।

ज्ञान तरङ्गिणी की तरङ्गे लहराने लगीं। वे अथाह अनन्त अगाध आनन्द-सिन्धु में निमग्न हो गये। बिन्दु सिन्धु बन चुका था। परावाणी वैखरी रूप में प्रादुर्भूत होगई। स्वयं शङ्कर ही तद्रूप हो सनकादिकों के हृदय में प्रविष्ट होकर उनके मुखों से बोल उठे :

"चित्रं वटतरोर्मूले, वृद्धाः शिष्यागुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु क्षीणसंशयाः॥"

वे चारों सद्गुरु के पावन चरणों में गिर पड़े। परन्तु शङ्कर तो अन्तर्धान थे। सनकादिक पूर्ण हो गये; कृतकृत्य होगये। युग-युग की साधनायें सिद्ध हो चुकीं थीं। जीवन का साफल्य लब्ध हो गया था। पुलकित शरीर, आनन्द रस नयनों से छलकाते हुए सनकादिक प्रेम-विभोर हो चल पड़े।

× × × ×

उन दिनों नारद विवाह की आकांक्षा में थे और हरि ने उसमें विघ्न डाला था। भगवान् विष्णु को शाप देने के उपरान्त नारद को परम क्लेश हुआ। वह विचार करने लगे—"ओह ! मैंने क्या किया ? मेरी बुद्धि कैसी हो गई ? जीवन भर कठिन तप का क्या यही फल है ? पराभक्ति की क्या यही पराकाष्ठा है ? उनके चरणों में मेरा क्या यही अटल विश्वास था ? प्रभु ने तो मुझ अधम का उद्धार ही किया, मुझे दीन समझकर शरण में ही लिया। स्वामी ने तो अपना कर्त्तव्य पूर्णतया निबाहा, मुझ जैसे अभागे का नरक से उद्धार किया; परन्तु मैंने उसका क्या फल दिया ? ओह ! बड़ी सुन्दरता से मैंने कृतज्ञता दिखाई। अपने सेवक होने का कितना अद्भुत रूप दिखाया ? हाय ! मुझ पतित का कहाँ ठिकाना है ? क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? परम दयालु पतित पावन अशरण-शरण प्रभु का अनादर किया, अपमान किया। हा ! मेरी बुद्धि को धिक्कार है। ओह ! उस क्षण की स्मृति अब शल्य बन गई। प्रभु को क्रोधान्ध हो मैं कटु शब्द कह रहा था और करुणावरुणालय

प्रभु मुस्करा रहे थे। हा ! उस समय मुझ पर प्रभु का तीक्ष्ण चक्र क्यों नहीं चल पड़ा। यदि उस समय मुझ पर आकाश टूट पड़ता तो क्यों आज यह हृदय सन्ताप की ज्वाला में जलता। चारों ओर मुझे विषाद-वह्नि ही जलती दिखाई पड़ रही है।"

इस प्रकार परम उद्विग्न होकर नारद उत्तर दिशा की ओर चल पड़े। नारद के हृदय में अशान्ति का सागर उमड़ रहा था। वे शान्ति के लिये व्याकुल थे। पर्वत की उत्तुङ्ग श्रेणियों पर नारद भटकने लगे, शान्ति की खोज में। उनके शिथिल शरीर का भार उनके पदकमलों से संभल नहीं रहा था। अतः वह डगमगाते चल रहे थे। उनके चञ्चल नेत्र दूर-दूर दौड़ रहे थे। कहीं दूर पर उनकी अन्वेषणशीला दृष्टि किसी आधार पर ठहर गई। तुरीयावस्थावस्थित सनकादिक आनन्द लहरों में लहराते आ रहे थे। अपने स्वरूप में स्थित सनकादिकों के चतुर्दिक् परम शान्ति का साम्राज्य उमड़ रहा था। नारद ने उन्हें देखा और पहचानने पर उनकी ओर दौड़े। कुछ ही क्षणों में सनकादिकों के चरण नारद के आँसुओं से आप्लावित हो गये। सनकादिकों ने उठाकर नारद को हृदय से लगा लिया और बोले:—

"भक्ताग्रगण्य नारद ! आज यह दशा क्यों ? सङ्गीत की स्वर लहरियों में करुण क्रन्दन कैसे ? प्रफुल्ल कमलानन में औदास्य कीटाणु क्यों लग गया ? मधुर मुस्कान के स्थान पर अश्रुधारायें क्यों ? सङ्कीर्तनसुधा वर्षिणी वाणी में आज मौन क्यों ?"

सनकादिकों के कथन से नारद और भी अधीर होकर फूट पड़े। उन्होंने रोते-रोते सारी व्यथा पूर्ण आत्म-कथा कह सुनाई। सनकादिकों ने मुस्करा कर कहा—'हे नारद ! तुमने अशरण शरण प्रभु की आत्म शेष बना कर उपासना की, अर्थात् उन्हें अपना ही माना। उसी के फलस्वरूप तुम्हें दुख-प्राप्त हुआ। जिस समय तुम परम प्रभु को आत्म रूप शेषी बनाकर उपासना करोगे, उस समय

तुम्हें पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी। नारद! तुम धैर्य धारण करो। अवश्य ही तुम परम शान्ति पा जाओगे। जब व्यक्ति अपने को पतित समझ लेता है, तब उसे उठते देर नहीं लगती।"

नारद को कुछ आश्रय मिला, प्रकृतिस्थ होकर बोले—'ऋषियो! मुझ निराधार की रक्षा कीजिये। पतित पावन अशरण शरण मेरा उद्धार कीजिये। मुझे इस अथाह अशान्त सागर से डूबते हुए को अवलम्ब दीजिये। मैं परम दुखी हूँ।'

सनकादिकों का हृदय द्रवित हो उठा, सुन्दर शिला पर बैठकर नारद को परमज्ञान देने लगे। शङ्कर से प्राप्त "ब्रह्म विज्ञान" में सनकादिक तरङ्गित हो उठे; बोले—नारद! जिन आनन्दमय अचिन्त्य माया पति शङ्कर के मुस्कराने से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड झूम उठते हैं, जिनके भ्रूभङ्ग मात्र से त्रिभुवन विकम्पित हो जाते हैं, जिनके चित्त प्रसाद से सारा ब्रह्माण्ड प्रसन्न हो जाता है, उन्हीं शङ्कर का स्मरण करो"। नारद आशुतोष भवानी पति शिव के स्मरण में मग्न हो गये। चित्त शान्त एवं शुद्ध होने पर सनकादिकों ने नारद को वही "ब्रह्म विज्ञान" प्रदान किया, जो शङ्कर से परावाणी में प्राप्त किया था। नारद उस "ब्रह्मविज्ञान" की प्राप्ति कर पूर्ण हो गये। उनके हृदय में आनन्द सिन्धु उमड़ पड़ा। वे आत्मतुष्ट हो पूर्ण महारस में डूबे हुए पर्वतीय रमणीय श्रेणियों पर विचरने लगे।

इतना कहकर व्यासजी के मुख पर विषाद की रेखा खिच गई। सूत जी बोले—'गुरुवर! नारद से वह ब्रह्म विज्ञान किसने प्राप्त किया? आगे का वृत्तान्त भी सुनाइये। इस कथा से मुझे बड़ा ही आनन्द प्राप्त हो रहा है।' व्यास जी बोले—"हे सूत! उसी समय मैं भी अशान्त होकर ज्ञान के तत्व साक्षात्कार के लिए व्याकुल हो रहा था।"

यह सुनकर सूत जी आश्चर्य पूर्वक बोले—"गुरुवर! आपको अशान्ति……? क्या आपको भी अपूर्णता का अनुभव हुआ?"

"हाँ सूत! मुझे भी अशान्ति हुई। एक लक्ष वेद मन्त्रों को सरल रूप में महाभारत में समाविष्ट कर एक लक्ष श्लोकों की रचना की। उन श्लोकों को लिखने के लिए मैंने गणेश जी को लेखक बनाया। तप रूपी वेतन देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। आदि देव पूज्य अनादि गणपति को कष्ट देने के कारण मुझे अशान्ति हो गई।"

सूत जी बोले—"प्रभुवर! गणेश जी को तो आपने लोकोपकार के लिए कष्ट दिया था।"

व्यास जी हँस कर बोले—"सूत! देवताओं को कष्ट देना महा अशान्ति का कारण है। चाहे वह कष्ट स्वार्थ से दिया जावे अथवा परार्थ से।" हाँ तो सुनिये! मैं परम अशान्त हो कर हिमालय पर भ्रमण कर रहा था। उन्हीं दिनों नारद जी के दर्शन हो गये। नारद मेरी अशान्त दशा देखकर दयार्द्र हो उठे। वह स्वयं अशान्ति का अनुभव कर चुके थे, अतः वह मुझ पर अनायास कृपालु हो गये। मुझे श्रद्धावनत एवं दुखी देखकर उन्होंने परम गुह्य तत्त्व का उपदेश दिया। उनके ज्ञानोपदेश से मेरे हृदय में "ब्रह्म विज्ञान का उज्वल प्रकाश हो गया। मैं कृतकृत्य हो गया। उसी आनन्द सागर में सर्वदा निमग्न रहता हूँ। यहाँ इस पर्वतीय गुहा में आनन्द की तरल तरङ्गों में तरङ्गित रहता हूँ।"

"हे सूत! अब मैं तुम्हें वही 'ब्रह्मविज्ञान' सुनाऊँगा जो शङ्कर से सनकादिकों ने प्राप्त किया था। सनकादिकों से नारद को और नारद से मुझे प्राप्त हुआ।"

इस प्रकार व्यास द्वारा 'ब्रह्मविज्ञान' की गुरु परम्परा सुनकर सूत जी परम हर्ष को प्राप्त हुए और बोले—"गुरुवर! इस 'ब्रह्म विज्ञान' को सुनने के लिये मेरा मन ललचा रहा है। परन्तु इससे पूर्व मेरी कुछ शङ्कायें हैं, उनका भी निराकरण कर दीजिए।"

व्यास जी बोले—"सूत! तुम अपनी शङ्कायें निःसङ्कोच कह डालो।"

सूत बोले—"प्रभो ! इस जगद्व्यवहार का स्वरूप वस्तुतः क्या है ? यह इतना बड़ा विश्व कैसे बन गया ? यह संसार किस ओर जा रहा है ? इसकी स्थिति कहाँ है ? चराचर विश्व का क्या गन्तव्य है ? इस विश्व का एक तृण भी स्थिर नहीं है। इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन क्यों होते रहते हैं ? परिवर्तनशील होने पर भी जगद्व्यवहार पूर्ववत् क्यों स्थायी रहता है ? संसार के लोग अन्धों की भाँति एक दूसरे के पीछे दौड़ते चले जाते हैं। इस सबका क्या कारण है ?"

व्यास जी बोले—"सूत ! मैं तुम्हें 'ब्रह्मविज्ञान' सुनाऊँगा। उसमें तुम्हारी सभी शङ्कायें निवृत्त हो जायेंगी। सूत ! सुनो, सर्व प्राणीमात्र का लक्ष्य (आत्यन्तिक) दु.ख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है। परन्तु यह लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त क्यों नहीं होती ? इसका मूलतत्व आज तुम्हें बतलाता हूँ। कर्तव्यता रूप भूत ही इस लक्ष्य सिद्धि में परम बाधक है। 'मुझे अमुक कर्तव्य है' इस भाव के शेष रहने पर कदापि दुःख नाश नहीं हो सकता। चन्द्र से वह्नि और वह्नि से हिम उत्पन्न होना सम्भव है, परन्तु कर्तव्यता शेष रहने पर दुःख निवृत्ति सम्भव नहीं।

"हे सूत ! विचार करो कर्तव्य का भार ही सब दुःखों का दुःख है। इसके शेष रहने पर मानव को दुःखाभाव और सुख प्राप्ति असम्भव है। यदि कोई व्यक्ति 'कर्तव्यता शेष रहने पर भी सुख का अनुभव करता है तो उसका सुख वैसा ही समझना चाहिए जैसे किसी व्यक्ति का समस्त शरीर दग्ध होने पर चन्दन लेप से सुख प्राप्त होता है, अथवा निरन्तर बाण प्रहारों से आहत व्रण खेद-खिन्न-मुमूर्षु को अप्सरालिङ्गन से जो सुख होता है। किंवा मृत्यु की ओर जाने वाले क्षयी रोगी को मधुर सङ्गीत श्रवण में जो सुख होता है, अथवा यह समझिये, शूली पर चढ़े हुए व्यक्ति को गन्धाक्षत पुष्पों से पूजित होने पर जो सुख होता है; अथवा (पुत्र शोकाकुल) पुत्र के

मृतक होने पर पिता को मिष्टान्न भोजन में जो सुख होता है, तथा स्वाति जल पिपासातुर चातक को जैसा सुख अन्य जल प्राप्ति से होता है।

"संसार में वही सच्चे सुखी हैं, जिनका कोई कर्तव्य शेष नहीं। कर्तव्य शेष न रहने से जो अन्तर्बाह्य शान्त हो गये हैं वही सुखी हैं। कितना आश्चर्य है कि कोटि-कोटि कर्तव्य पर्वतों से पिसा हुआ मानव भी सुख की अभिलाषा करता है। हे सूत! सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् से लेकर तुच्छ भिक्षुक तक सभी लोग कर्तव्यता पिशाचिनी के भयङ्कर पाश में बँधे हैं। समस्त दुःखों की मूल कर्तव्यता ही है। सनकादिकों को इसी कर्तव्यता ने ही दुखी किया था। नारद इसी से पीड़ित हुए थे और मैं भी इसी कर्तव्यता के कारण परम अशान्त रहा। कर्तव्यता का भूत बड़ा भयङ्कर है। हे सूत! मैंने सर्व प्रथम संसार का मूल कारण बताया है। इसी कर्तव्यता से ही संसार उत्पन्न होता है। इसी को समझ लेना संसार को समझ लेना है और इससे मुक्त होना ही संसार से मुक्त होना है।

"हे सूत! अब तुम भी इसी कर्तव्यता पिशाचिनी के पाश में ग्रस्त हो। इससे मुक्त होने का उपाय करो।" इतना कह कर व्यास जी मुस्करा उठे। शत-शत चन्द्रों की धवल ज्योत्स्ना बिखर गई।

द्वितीयोऽध्यायः

विचार का महत्व

विचार एवास्ति परं निधानम् ।
बीजं विशुद्धं सुख पादपस्य ।।
तस्यैव शक्तिर्हि नवाङ्कुरश्च ।
विचारवान्भाति नरोधरायाम् ।।२।।

श्री वेदव्यास जी का सरस व्याख्यान हो रहा था। सूत जी उस ज्ञानामृत का स्वाद अपने शुद्धान्तःकरण से ले रहे थे। श्री वेदव्यास क्षण भर विराम लेने के उपरान्त पुनः कहने लगेः—"सूत ! कर्त्तव्यता के भूत की बात तो तू समझ ही गया होगा। वास्तव में कर्त्तव्यता रूपी काले सर्प के डसने पर किसी को शान्ति नहीं मिलती। यह ऐसा विष है जिसने सभी जीवों को मूर्छित कर रखा है। उस विष से सभी अन्धे हैं। अनादि काल से यह जगत इसी कर्त्तव्यता रूपी तप्त तेल के कड़ाह में पक रहा है। हे सूत ! तू इस कर्त्तव्यता पिशाचिनी से मुक्ति चाहता है अतः धन्य है।"

श्री व्यासजी की बात सुनकर सूतजी के आनन्दाश्रु छलक पड़े। वह करबद्ध बोले—"गुरुवर ! कृपा करके इस कर्त्तव्यता कृत्या के नाश का उत्तम उपाय बताइये, जिससे मैं सर्वाङ्ग शीतल हो कर परम शान्ति का लाभ कर सकूँ। श्री व्यास जी बोले—"हे सूत ! कर्त्तव्यता का नाश विचार से होता है। यह कर्त्तव्यता पिशाचिनी अविचार रूपी रात्रि में रहती है और जीवों को पीड़ित करती है।

सुविचार रूपी सूर्योदय होने पर इसका नाश हो जाता है, अतः सूत! तू विचार का आश्रय ले। विचार का कवच पहन कर संसार समर में तू विजयी होगा। तुझ पर काम-क्रोधादि किसी भी शत्रु का प्रहार नहीं हो सकेगा। अविचारी व्यक्ति ही संसार के दल-दल में फँस कर जन्म-मरण का क्लेश भोगते हैं; अविचार ही मृत्यु है और अविचार ही है जीवत्व। एक कथा कहता हूँ। सूत! तुम उसे सावधान हो कर सुनो।

"एक बार कुछ यात्री यात्रा करने चल पड़े। चलते चलते विन्ध्याटवी में पहुँच गये। वहाँ घूमते-घूमते वे बहुत थक गये। भूख और प्यास से परम पीड़ित हो कर खाने के लिए वे फल खोजने लगे। खोजने पर उन्हें कुचिला के फल मिले। वह सोचने लगे यह तो काजू के से फल हैं। उनमें से कई साथियों ने कहा—"यह अज्ञात फल मत खाओ। आगे बढ़कर अन्य विश्वस्त फल खाये जाँय।" परन्तु भूख से व्याकुल होने के कारण उन्होंने अपने साथियों की बात नहीं मानी और वे फल खा लिए। उन फलों के खाने से उन यात्रियों का मस्तिष्क बिगड़ गया। वह इधर-उधर दौड़ने लगे। रात्रि में सघन जङ्गल में वह यात्री खाई-खन्दकों में गिरते पड़ते रहे। उनके सारे शरीर में कण्टक व्याप्त हो गये। वे पीड़ित हो कर भी उन्हीं कण्टकों में ही गिरते थे क्योंकि वे कुचिला के विष के कारण उन्मत्त हो चुके थे। कुछ देर बाद वह परस्पर लड़ने लगे और मार पीट से क्षत-विक्षत हो गये। सभी के शरीरों से रक्तपात हो रहा था। भगवत् कृपा से किसी प्रकार वह प्रातः काल अरण्य से निकल पाये। परन्तु उनकी बुद्धि तो विष के कारण दूषित थी; अतः वे लक्ष्यच्युत हो गये। आगे उन्हें एक नगर मिला। वहाँ राजा के भवन में वे घुस पड़े। राजा ने उनकी दशा तथा अशिष्टता देख कर बहुत क्रोध किया तथा अपने नौकरों से बहुत पिटवाया; अनेक यातनायें देकर कारागार में डलवा दिया"।

"सूत ! इस दृष्टान्त का सारांश यह है कि यह जीव ही यात्री है और संसार ही अरण्य है जिसमें वह सपरिवार अविचार से आकर सुख की खोज करते हैं। और विषय रूपी विष फल को खाकर आनन्द की भूख मिटाना चाहते हैं। परन्तु क्षुधा तो मिटती नहीं। प्रत्युत उस विष से उन्मत्त होकर नाना यातनाओं से पीड़ित होते हैं और जरा व्याधि, जन्म मरणादि कण्टकों में फँस कर कष्ट पाते रहते हैं। अन्त में यमलोक पहुँचकर यमदूतों द्वारा कष्ट भोगकर नरक रूपी कारागार में डाल दिये जाते हैं।"

"हे सूत ! यह सब अविचार का ही फल है। अविचार ही दुख की जड़ है और सुविचार ही सुख का मूल है। परम शान्ति के लिए विचार को ही ग्रहण कीजिए।"

"विचारशील पुरुष की सदैव जय होती है। अविचार से ही दैत्यों का नाश हुआ। सुविचार से ही देवता सुखी होकर पूज्य बने। विचार ही सुखवृक्ष का बीज है। सुविचार-शक्ति ही उस पादप का नवाङ्कुर है। विचार पूर्ण होने पर ही मानव सुशोभित होता है। विचार से ही श्री हरि पूज्य हैं। विचार से ही शङ्कर सर्वज्ञ और महेश्वर बने। राम ने समुद्रलङ्घन तथा लङ्का पर विजय एवं रावण-वध विचार शक्ति से ही किया। विचार से ही विश्व बना। विचार ही जीवन और अविचार ही मृत्यु है। अविचार से ब्रह्मा का शिर काटा गया। अविचार से शङ्कर ने भस्मासुर को वरदान देकर सङ्कट को झेला। देव, दैत्य, मानव, राक्षस सभी इस अविचार के कारण ही सङ्कट में पड़े हैं।"

"हे सूत ! जो पुरुष विचारशील हैं वही धीर-वीर और महात्मा हैं। वे वन्दनीय हैं, विचार द्वारा अनावश्यक कर्त्तव्यों का भार उतर जाता है। अतः विचार बड़ा उपयोगी साधन है।"

सूत जी कहने लगे—'गुरुदेव ! आपके इस उपदेश से बड़ी ही शान्ति मिल रही है। कृपया अब यह बताइये कि यह सुविचार सरिता हृदय में कैसे तरङ्गित होगी।'

'सूत ! सुविचारोत्पत्ति का एक मात्र साधन ब्रह्मदेव की कृपा है।'

'गुरुवर्य ! ब्रह्मदेव की कृपा कैसे हो ?'

'हे सूत ! भक्तिपूर्वक सेवा से ब्रह्मदेव सन्तुष्ट होकर कृपा करते हैं।'

'महाराज ! ब्रह्मदेव की भक्तिपूर्वक सेवा क्या है।'

'सूत ! ब्रह्मदेव को सर्वान्तर्यामी, चिन्मय, शिव, स्वात्मस्वरूप समझकर उनमें मन तन्मय करना तथा संसार को ब्रह्मदेव का रूप समझते हुए सब कुछ उसका समझना ही उसकी भक्ति पूर्वक सेवा है।'

'गुरुदेव ! ब्रह्मदेव को चिन्मय समझकर मन को कैसे तन्मय किया जाता है।'

'सूत ! जल में नमक मिलकर जैसे तदाकार हो जाता है, उसी प्रकार मन भी ब्रह्मविचार से तन्मय होना चाहिए। उसके लिए दृढ़ विश्वास होना चाहिए।'

'गुरुवर ! तन्मय होने के लिए विचार में दृढ़ता कैसे आवे ?'

'हे सूत ! ब्रह्मदेव का माहात्म्य श्रवण ही विश्वास में दृढ़ता लाने का एक मात्र उपाय है। 'अतः अब तू विचार कर, विचार से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकेगा एवं जन्म-मरण के भँवर से मुक्त होकर परम शान्ति लाभ कर सकेगा।'

इतना कहकर श्री व्यास जी मौन हो गये और सूत जी विचार की तरङ्गों में खोये हुए निस्तब्ध थे।

कुछ क्षण विराम लेने के पश्चात् व्यास जी पुनः बोले—'हे सूत ! विचार द्वारा जीव अपने सच्चे स्वरूप को पहचान लेता है। जीव सदैव आनन्द एवं चैतन्य रूप है, परन्तु अविचार के कारण ईश्वर अंश आनन्द रूप होने पर भी अपने को भूलकर स्वरूप-स्थिति से च्युत हो कर्मबन्धनों में बँधकर दुःख झेल रहा है। इस विषय में हे सूत ! एक दृष्टान्त सुना रहा हूँ।'

"एक गड़रिया बकरियों को चराता हुआ एक सघन अरण्य में पहुँच गया। वहाँ उसे एक तत्काल प्रसूत सिंह का बच्चा प्राप्त हुआ। नवजात सिंह शिशु को गड़रिया उठा लाया और बकरियों के साथ उसका पालन करने लगा। बकरियों के साथ पोषण होने से सिंह शिशु का स्वभाव बकरी जैसा ही हो गया। वह अपने को बकरा समझता था और उन्हीं की भाँति "मैं मैं" बोलता था। गड़रिया उसे रस्सी से बाँधता और कान पकड़ कर डण्डे से मारता था। वह बेचारा अपने को न जानने के कारण सभी कुछ सहन करता था। उसके अन्तःकरण में बकरेपन का पूर्ण अभ्यास हो चुका था। तरुण होने पर भी वह सिंह दीन-हीन बना गड़रिये के अधीन रहता था।"

"एक दिन वह सिंह-शिशु बकरियों के साथ चरता हुआ एक सघन अरण्य में पहुँच गया। वहाँ एक शेर था। उसने देखा कि यह नव तरुण सिंह बकरियों के साथ चर रहा है। उसने विचार किया, "ओह ! यह शेर परम बलशाली होकर भी अपने को विस्मृत कर चुका है ! हा ! हन्त !! गड़रिया के डण्डे खाने में ही यह सुखी है। बकरियों के साथ दीन बना हुआ यह दुख पा रहा है। ओह ! माया की शक्ति तो देखो ! अपने चक्कर में डालकर जीव को कैसे भ्रमाती है। अहा ! हा ! अज्ञान का बल कितना विशाल है जिस पर यह अपना आधिपत्य कर लेता है उसे कैसा अद्भुत नृत्य कराता है। यह सिंह शिशु बिचारा माया-जाल में फँसा है। इसका उद्धार करना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर उस अरण्य वासी सिंह ने बकरियों के साथ रहने वाले सिंह को बुलाया और कहा—"अरे ! बड़े आश्चर्य की बात है, जो तुम इन बकरियों के साथ चरते हो। यह बकरियाँ तो तुम्हारा भोजन हैं। वाह ! तुम तो सिंह हो, अरण्य के राजा हो।" वह सिंह शिशु बोला—"वनराज ! आप क्या कह रहे हो, मैं सिंह नहीं, मैं तो बकरा हूँ। भला मैं सिंह कैसे बन सकता हूँ।"

इतना कहकर सिंह-शिशु गिड़गिड़ाने लगा। उसका अन्तःकरण बकरे की भावना से भावित हो चुका था फिर वह सिंह की बात स्वीकार कैसे करता। सिंह ने कहा—'अच्छा देखो हमारा और तुम्हारा एक सा ही स्वरूप है; अतः हम तुम दोनों एक ही हैं।' इतना कहकर एक स्वच्छ तड़ाग में सिंह ने अपने प्रतिबिम्ब से उसका प्रतिबिम्ब मिलाया।

वह सिंह शिशु बोला—"इस प्रकार स्वरूप मिलने से क्या मैं सिंह हो जाऊँगा? मैं तो बकरा हूँ सो बकरा रहूँगा।" उसके अन्तःकरण में अपने बकरे होने का पूर्ण निश्चय हो चुका था।

अरण्यवासी सिंह बोला—"अच्छा, तुम मेरी भाँति गर्जना तो करो, क्या तुम मेरी भाँति बोली बोल सकते हो?"

वह बोला—"हाँ, बोली तो मैं सभी की बोल सकता हूँ, आप बोल कर दिखाइये।"

अरण्यवासी सिंह ने जोर से गर्जना की। उसकी गर्जना से सारा विपिन विकम्पित हो गया। सिंह-शिशु में निजी संस्कार तो थे ही, वह बोला—"इस में कौन सी बड़ी बात है?" और तब उसने भी बड़ी जोर से दहाड़ मारी।

अरण्यवासी सिंह बोला—"अच्छा, यदि तुम बकरा हो तो बकरा ही रहो, पर ऐसी ही दहाड़ बकरियों और गड़रियों को भी सुनाना।" सिंह शिशु ने यह स्वीकार कर लिया।

सायँकाल वह गड़रिया जब बकरियों का झुण्ड एकत्रित करके घर को चला, उसी समय उस बकरा रूपी सिंह ने बीच गोल में बड़ी जोर से गर्जना की। उसकी गर्जना से सभी बकरियाँ भयभीत होकर भाग खड़ी हुईं। गड़रिया भी भय से व्याकुल होकर भागा। उसने विचार किया, अब यह सिंह तरुण हो गया है। हम सबको फाड़ खायेगा; अतः इसको पकड़ना उचित नहीं। उसी दिन से वह सिंह-शिशु गड़रिया की रज्जु बन्धन से विनिर्मुक्त हो गया। उसका

दण्ड भय सर्वदा के लिये समाप्त हो गया और स्वतन्त्र होकर अरण्य का स्वसाम्राज्य भोगने लगा।

"इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्त यह है कि संसारी जीव ही शेर के बच्चे हैं। क्योंकि यह परमात्मा के अंश हैं और विषयरूपी बकरियों के सङ्ग करने से यह जीव विषयाकार वृत्ति बनाकर तद्रूप ही बन बैठा है। यमराज रूपी गड़रिया इसे कर्म रूपी रस्सी में बाँध कर चौरासी लाख योनियों रूपी खूटे में बाँधता है और नरक की यातनाओं रूपी डण्डे को खाकर दुखी होता है। "मैं, मेरा" रूपी "मैं, मैं" करता रहता है और अपने सच्चिदानन्दमय रूप को पहचानने वाला महापुरुष रूपी सिंह जब मिल जाता है तब उसे 'ब्रह्म विज्ञान' रूपी गर्जना सुना कर शिक्षा देता है। जब उसके स्वरूप का ज्ञान करा देता है तब वह अपने ज्ञान-गर्जन से विषय रूपी बकरियों को भयभीत करके भगा देता है और यमराज रूपी गड़रिया से बच जाता है। ज्ञानाग्नि से कर्म रज्जु भस्म हो जाती है और वह चौरासी लाख योनियों रूप खूटे में न बँध कर निर्मुक्त हो जाता है। वह आत्मस्थिति पाकर स्वरूप साम्राज्य में आनन्द भोगता है। इतना सुन कर सूतजी गद्‌गद् हो गये और विचार के महत्व को समझ कर प्रसन्नता के सागर में डूबने उतराने लगे।"

तृतीयोऽध्यायः

आत्म समर्पण

आनन्द सिन्धोस्तव वारिविन्दोः ।
पुरः किमास्ते विधिलोक सौख्यम् ।।
पादारविन्देषु रतिं प्रयच्छ ।
श्रुत्वा बलेर्गां हरिरालिलिङ्ग ।। ३ ।।

श्री व्यास जी द्वारा विचार का महत्त्व श्रवण करके सूत जी बोले—"गुरुवर ! अब मैं समझ गया हूँ कि मोक्ष का एक मात्र साधन विचार ही है । प्रभो ! मुझे विचारों का सूक्ष्म तत्व समझने की जिज्ञासा उद्भूत हो गई है । गुरुदेव ! विचार कहाँ से उत्पन्न होते हैं ? कहाँ स्थिति पाते हैं ? विचार कैसे किया जाता है ? विचार की गति क्या है ? विचार निष्ठा किसे होती है ? उसके परिवर्तन की क्या विधि है ? इसका प्रवाह किस स्थिति में वेगवान् होता है ? इत्यादि सूक्ष्म विवेचन करके इस मूल तत्व की धारणा कराइये ।"

सूत जी के प्रश्नों को सुनकर श्री व्यास जी बोले—'हे सूत ! विचारों की गति बड़ी सूक्ष्म है इसका रहस्य स्वानुभूति से ज्ञात होता है । विचारों का मूल स्रोत बुद्धि ही है । और बुद्धि कहते हैं शुद्ध चेतन के सङ्कोचन मात्र को । इस बुद्धि में अनादि संसार के अनन्त संस्कार रूप बीज भरे हैं । और वही संस्कार उपयुक्त उपकरण एवं अवसर प्राप्त करके विचार रूप में प्रस्फुटित हो जाते

हैं। अतः सिद्ध है कि 'अनादि संस्कारों के कार्यकरण की मध्यावस्था का नाम 'विचार' है।'

जैसे पृथ्वी में पड़े हुये बीज को जल और खाद एवं समय की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बुद्धिस्थ संस्कार रूपी बीज, सङ्ग एवं अपने अनुकूल विषयाभिमुखता से अवसर पाकर विचार रूपी वृक्ष में परिणत हो जाते हैं। विचारों की स्थिति विवेक द्वारा होती है। हृदयवान् व्यक्ति को ही विचार निष्ठा हो पाती है। हृदय में विचार स्थिति पाते हैं और मस्तिष्क से प्रादुर्भूत होते हैं।

हे सूत ! मस्तिष्क का आहार है अर्थ और उसकी पुष्टि है अर्थ साध्य कामनायें एवं हृदय का भोजन है धर्म और उसकी पुष्टि है धर्म साध्य सुखातिशयाधान। यह दोनों लोक परलोक के नयन है। प्रायः मस्तिष्क ऐहलौकिक नयन है और हृदय पारलौकिक नयन है।

यह सुनकर सूत जी बोले—प्रभो ! आपने तो यह बड़ी ही अद्भुत बात बताई। हृदय और मस्तिष्क को लोक परलोक के नेत्र बताया है। कृपया इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण कीजिये।

श्री व्यास जी बोले—सूत ! इस गम्भीर विषय का रूपक पुराणों में मैंने बड़ी रमणीयकला से बांधा है। तुमने पुराणों के यथार्थ तथ्य को नहीं समझा है। केवल रूपकों के ऊपरी अर्थ को जानने वाले अपूर्ण होते हैं। पुराणों के यथार्थ तत्व को समझने वाले कभी शङ्का नहीं किया करते। मैंने पुराणों में मलाई लपेटकर भवरोग नाशक कुनैन रक्खी है। केवल मलाई को देखने वाले मूढ़ लोग व्यर्थ में वाद विवाद करते हैं। तुम्हारे विषय का स्पष्टीकरण मैं पुराण की एक कथा द्वारा कर रहा हूँ।

दैत्यराज बलि की विशाल सभा लगी थी। परम, प्रकाण्ड विद्वद्वृन्द एवं सामन्तमण्डल समुपस्थित था। चतुर्दिक शान्त वातावरण था। स्वर्णिम रत्न जटित सिंहासन पर राजा बलि समासीन थे। समीप ही गुरुवर श्री शुक्राचार्य मणिपीठ उच्चासन पर उपविष्ट

थे। सभा निस्तब्ध एवं शान्त थी। बलि ने निस्तब्धता भङ्ग करते हुये सामन्त एवं अमात्य वर्ग को आवश्यक आज्ञायें प्रदान कीं। तदनन्तर गुरु शुक्राचार्य के अभिमुख होकर कहने लगे—गुरुवर ! एक प्रश्न हमारे हृदय को बहुत काल से आलोडित कर रहा है। आप सर्वज्ञ हैं सभी वेदतत्व आपके करतल गत है। कृपया आप यह बताइये कि मैं राजा होकर भी दैत्यवंश का अधिपति क्यों बना ?

मन्द मुस्कान पूर्वक शुक्राचार्य बोलेः—राजन् ! दान का फल राजत्व है। आपने पूर्व काल में महान् दान किया, भूमि, स्वर्ण, गौ आदि कोटि कोटि संख्याओं में प्रदान कीं। परन्तु वह दान असात्विक था अतएव दैत्य राजत्व प्राप्त हुआ।

'गुरुवर ! असात्विक दान कैसे होता है ? 'देना दो प्रकार का होता है, दया रूप में और दान रूप में। विद्या गुण उत्कृष्ट वर्ण विशिष्ट जो दानपात्र जाति उसे अपमान् बुद्धि से देना असात्विक है। और दयापात्र को दान बुद्धि से देने वाला दाता विनाश को प्राप्त होता है।

'गुरुवर ! दयापात्र और दानपात्र में क्या अन्तर है ?'

'पर दुःख प्रहरण के लिये उठे हुये भावों के द्वारा विवश हुये हृदय से करने योग्य क्रिया का पात्र दया पात्र हैं और परलोकेच्छा से शास्त्र विधिनियम पूर्वक विद्या, गुण, धर्म उत्कृष्ट वर्ण विशिष्ट पात्र दान पात्र है।' 'गुरुवर ! दयापात्र को दिया हुआ दान क्या फलवान् नहीं होता ?'

"हाँ राजन् ! दयापात्र को दिया हुआ दान केवल यशमात्र फल देता है। गौ की सेवा तत्काल दुग्ध और परलोक में सुख देती है। और गर्दभी की सेवा केवल भारवाहन आदि सांसारिक कार्य ही पूरा कर सकती है।"

"गुरुवर ! मैं आपके तात्विक विवेचन को भली प्रकार समझ गया। एक बात और पूछनी है गुरुवर।"

"पूछिए दैत्यराज।"

प्रभुवर ! हमारे पूर्वजों ने स्वर्ग पर कई बार अधिकार कर लिया परन्तु वह इन्द्रपदत्व स्थायी क्यों नहीं रहा ? इसका क्या कारण है ?"

राजन् ! अन्याय और अनीति से कमाया हुआ ऐश्वर्य स्थायी नहीं होता। दूसरों की आहों से ज्वलित धन उपभोक्ता का भी विनाश कर देता है। बलि ! विचार करो, एक दस्यु (डाकू) एक रात्रि भर में ४००००) का डाका डाल कर लाता है परन्तु वह धन ४० दिन तक भी स्थायी नहीं रहता। परन्तु एक उद्योगी सत्पुरुष चालीस वर्षों में ४००००) एकत्रित कर पाता है वह सम्पति उसके पौत्र पुत्रों के भी उपभोग में आती है। यही कारण है कि तुम्हारे पूर्वजों के पास इन्द्रपद स्थायी नहीं रहा।

"प्रभुवर ! तो यह बताइए कि इन्द्रपद किस उपाय से स्थायी रूप में मिल सकता है ?"

"राजन् ! इन्द्र का नाम शतक्रतु है, शतअश्वमेध यज्ञ करने वाले को स्थायी रूप से इन्द्रपद प्राप्त होता है। अतः राजन् ! इन्द्रपद प्राप्त करने में सौ अश्वमेधयज्ञ हो एकमात्र उपाय है।"

"गुरुवर ! तो मैं सौ अश्वमेध यज्ञ करूँगा। मुझे आशीर्वाद दीजिए तथा मेरे कार्य में सहयोग दीजिए, जिससे मैं इस कार्य में सफल हो जाऊँ। मैंने सौ अश्वमेध यज्ञों का सङ्कल्प इसी क्षण हृदय में कर लिया है।"

"राजन् ! कार्य बहुत गुरुतर है। इन कार्यों में महत् विघ्न आया करते हैं। तथापि मैं आपकी सहायता प्राणपण से करूँगा।"

दैत्यराज बलि ने मन्त्रियों को आज्ञा दी, नगर की पूर्वीय सीमा पर विशाल यज्ञ मण्डप की रचना हो, विद्वानों को आमन्त्रित किया जाय। उपयोगी औषधियों की खोज हो। अन्य यज्ञोपयोगी उपकरण जुटाये जाँय।

राजाज्ञा सर्वत्र फैल गई। चतुर्दिक घोषणा हो गई कि दैत्य-राज बलि इन्द्रपद के लिए शत यज्ञ करेंगे। राजसभा एक नवीन स्फूर्ति लेकर विसर्जित हुई।

राजा बलि यज्ञों के उपकरण जुटाने में संलग्न हो गये। विष्णु भगवान् ने देवों की पुकार सुनी और सङ्कल्प भी कर लिया कि दैत्य राज बलि के इस यज्ञ में प्रतिबन्ध डालना है। बलि के ९९ यज्ञ पूर्ण हो चुके हैं। यह सौवाँ यज्ञ है इसके पूर्ण होने पर यह इन्द्रपद प्राप्त कर लेगा। इस कार्य की सफलता के लिये भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति माया का आह्वान किया। अघटित घटना पटीयसी माया ने आकर प्रभुके पदपङ्कजों में प्रणाम किया और मन्द मुस्कान से बोली—"प्रभो ! क्या आज्ञा है ?"

अपारशक्ति मयी माये ! अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा मेरा लघुरूप निर्मित करो।

प्रभुवर ! मैं.........? आपका रूप......? आपकी सत्ता से ही मेरी सत्ता है। आपको लघु रूप की क्या आवश्यकता, फिर आप तो महतो महीयान् अणोरणीयान् हैं। इतना कहकर माया ने कटाक्ष से प्रभु की ओर देखा।

प्रभु बोले—नहीं माये ! तू समझी नहीं, मैं मायिक लघु रूप चाहता हूँ। मैं बलि के यज्ञ में वञ्चनामय रूप से जाना चाहता हूँ। मुझ में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड कल्पित हैं। अतः मैं वहाँ कैसे जा सकता हूँ ? क्या तू मेरा लघुरूप बना सकेगी ?"

माया बोली—प्रभो ! यह तो मेरा कार्य ही है, मैं सभी प्रकार का मिथ्या रूप बना सकती हूँ। जो वस्तु अपरोक्ष है उसको मैं परोक्ष रखती हूँ। जिस वस्तु का अत्यन्त अभाव है उसे मैं प्रत्यक्ष दिखा देती हूँ। घृणिततम पदार्थों को भी परम रमणीय बनाकर सांसारिक प्राणियों को मुग्ध कर देती हूँ। मैं विष्ठा के टोकरे पर कौशेय दुकूल उढाकर ज्ञानियों को भी मोहित कर लेती हूँ। प्रभो—

❀ बलि के यज्ञ में भगवान् वामन ❀

मैं निर्माण कार्य करती हूँ और आप उनका नियमन करते हैं। जिस संसार का मैंने निर्माण किया उसका प्रारम्भ ही विष्ठा से होता है। प्रभात में नित्य प्रलय के पश्चात् जब जगत उद्भूत होता है तब सब से प्रथम उसकी क्रिया कलाप शौच से ही होती है।

माया की बात सुनकर भगवान् मुस्करा उठे। माया की शक्ति से भगवान् ने वामन रूप धारण किया। प्रभु के परम रमणीय रूप को देखकर देवों ने पुष्प वर्षा की। भगवान् दण्ड मृगछाला धारण कर बलि के यज्ञ मण्डप की ओर चल दिये।

दैत्यराज बलि का यज्ञ बड़े समारोह से हो रहा था, "स्वाहा स्वाहा" की सुमनोरम ध्वनि गव्यूति अन्तराल में व्याप्त थी। मन्त्र-घोष से गगन गूञ्ज रहा था। भगवान् शनैः शनै यज्ञशाला की ओर बढ़े जा रहे थे।

यज्ञ दर्शकों ने देखा—दूर से स्निग्ध नील प्रकाश आ रहा है। सभी की दृष्टि उस उज्ज्वल प्रकाश की ओर गई। याज्ञिकों के कर आहुतियाँ न डाल सके, वाणी से मन्त्रघोष बन्द हो गया। ऋत्विजों ने देखा नयनाभिराम शान्त नीलोज्ज्वल आलोक सघनीभूत होकर आ रहा है। किसी ने विचार किया यह नागलोक से नीलमणिपुञ्ज यज्ञसिद्धि से आरहा है, अथवा इन्द्र ही यज्ञ से प्रसन्न होकर इन्द्रपद देने आ रहे हैं, किंवा साक्षात् आनन्दघन प्रत्यक चैतन्याभिन्न परब्रह्म ही साकार रूपमें आरहे हैं। शनैः शनैः भगवान् यज्ञमण्डप में पहुँच गये। सभी प्रभु के तेज से धर्षित होकर उठ खड़े हुये। उनके तेज से यज्ञमण्डप देदीप्यमान् हो गया। बलिने देखा—सम्मुख साक्षात् यज्ञ-पुरुष ही ब्राह्मण बटुक रूप में खड़े हैं। प्रभु के अरुण चरण कमल यज्ञभूमि को अलङ्कृत कर रहे हैं। भगवान् के कटितट पर मौञ्जी से अवनद्ध कौपीन है। स्कन्ध पर मृगचर्म का यज्ञोपवीत है। कर-कमल में पलाश दण्ड भयङ्कर यमभीति को भयभीत करने वाला सुशोभित है। विशाल अरविन्द नेत्रों में ईषत् आरुण्य हृदय तम के

लिये ऊषा सा दिखाई पड़ता था। भस्म विभूषित आयत भाल मनोहर था। शिर पर सघन आकुञ्चित अलकावली माया की सघनता को स्मरण करा रही थी। त्रिभुवन मोहनी मन्द मुस्कान यज्ञमण्डप में सौदामिनी की छटा विखेर रही थी। नील कमल से सुभग शरीर की कान्ति कोटि कन्दर्पों, के लावण्य दर्प को तिरस्कृत कर रही थी। बलि ने आगे बढ़कर सादर चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। और विप्रवटु को उच्चासन पर समासीन किया। और पाद्य अर्ध्य से पूजा की। तदन्तर हाथ जोड़कर बलि बोले—

"ब्रह्मचारिन्! सेवा का कुछ अवसर दिया जाय। मेरे धन को सौभाग्यवान् किया जाय।"

ब्रह्मचारी वेषधारी भगवान् बोले—राजन्! मैं भ्रमणशील बटुक हूँ। मुझे धन से क्या प्रयोजन? आपके यज्ञ की शोभा ही मुझे यहाँ तक आकर्षित कर लाई।

"नहीं बटुक! मुझे बिना कुछ दिये शान्ति नहीं प्राप्त होगी।"

राजन्! आपके अमित दान से सभी सन्तुष्ट हैं। दान लेने के लिये पृथ्वी पर विपुल याचक है।

"ब्राह्मणश्रेष्ठ! हमारा हृदय स्वीकृत कर चुका है कि आप विशिष्ट दानपात्र हैं। आपको दान देने के लिए मेरा मन लालायित हो रहा है। मेरी अभिलाषा पूर्ण हो।" यह कहकर वलि ने सतृष्ण नेत्रों से वामन भगवान् की ओर देखा।

"राजन्! हठ न करो" भगवान् गम्भीरतापूर्वक बोले।

"महापुरुषों से हठ भी कल्याणप्रद होता है" बलि के स्वर में दृढ़ता थी।

भगवान् मुस्कराने लगे उनकी रदपंक्ति से सम्पूर्ण यज्ञमण्डप आलोकमय हो गया। भगवान् बोले दान प्रिय दानवेन्द्र! यदि तुम्हारी ऐसी ही अभिरुचि है तो मेरे पर्णशालार्थ मुझे मेरे साढ़े तीन पग भूमि दान दीजिए।

"विप्रवर ! इतने में मुझे सन्तुष्टि नहीं हुई। तथापि इस कृपा का आभारी हूँ।" मैंने आपको आपकी अभीष्ट वस्तु··· । बलि का यह वाक्य पूरा न हुआ तब तक श्री शुक्राचार्य तार स्वर से गरज उठे। "सावधान् ! राजन् सावधान् !! देने से पूर्व याचक ब्राह्मण को पहचान लो"।

बलि चौंककर बोले––गुरुवर ! हृदय में किये हुए सङ्कल्प को वाणी द्वारा बाहर हो जाने दो। तदनन्तर याचक की पहचान कराना। जल लेकर सङ्कल्प कर दूँ।

राजन् ! भूल कर रहे हो। छद्म वेष में स्वयं त्रिलोकीनाथ तुम्हारा सर्वस्व अपहरण करने आये हैं। इन्द्रपद प्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं। इन्हें दान देने का दुःसाहस न करना," गुरु शुक्राचार्य उत्तेजना-पूर्वक बोले गये।

धन्य हो––गुरुवर! आपने गुरुत्व पूर्ण किया। त्रिलोकीनाथ की पहचान करा दी। मैं कृतकृत्य हूँ। जो अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान् साक्षात् नारायण को दान दे रहा हूँ। गुरुवर! शीघ्र सङ्कल्प कराइए।

भगवान् मन ही मन हँसने लगे और विचारा, अहा ! हा ! हा! ब्राह्मण तेरा मस्तिष्क परमोज्ज्वल है। तू मेरे सूक्ष्मातिसूक्ष्म मायिक रूप को भी पहचान गया। हे ब्राह्मण ! तेरा मस्तिष्क नयन तीव्रतम है। तू पहचानने में परम निपुण है। परन्तु अर्थाविष्ट मस्तिष्क होने के कारण हृदय हीन है। देना तो दूर रहा देते भी नहीं देख सका। संसार के समक्ष इसके हृदय हीनता का परिचय आवश्यक है। भगवान् ने निश्चय किया इस ब्राह्मण का हृदयनेत्र नहीं है, अतः उसका ज्ञान बाहर भी होना अनिवार्य है।

गुरु शुक्राचार्य पुनः उच्च स्वर में बोले––"राजन् ! तुम मेरी आज्ञा एवं मन्त्रणा पर ध्यान नहीं देते। यह कपट बटुक भगवान् तुम्हारे सर्वनाश को आये हैं। विचार और विवेकपूर्वक कार्य करो। यश के दीप पर पतङ्गायित न हो जाना।"

यज्ञमण्डप के सभी विद्वान् मौन थे, बलि के हृदय में आनन्द लहरें उठ रही थीं। भगवान् मन्द मुस्करा रहे थे और शुक्राचार्य थे विषाद मग्न।

बलि स्वर्ण निर्मित गङ्गासागर और कुश लेकर भूमि दान के लिये सङ्कल्प करने लगे। शुक्राचार्य ने विचार किया बलि भावावेश में है। यह किसी प्रकार नहीं मानेगा। अतः विघ्न डालने से सम्भवतः इसकी बुद्धि में कुछ परिवर्तन हो। ऐसा विचार कर गुरु शुक्राचार्य सूक्ष्म रूप वन कर गङ्गासागर की नलिका में प्रवेश कर गये। गङ्गासागर का जल अवरुद्ध हो गया। बलि को उद्विग्नता और आश्चर्य हुआ। भगवान् ने अवसर देखा, बोले--राजन्! रुको इस नलिका में कुछ है उसे साफ कर दें। प्रभु ने कुश के तीक्ष्ण अग्रभाग से शुक्राचार्य को एकाक्षी कर ही डाला। आभ्यन्तरिक एकाक्षी तो शुक्राचार्य थे ही, बाहर से भी द्योतित हो गये। तत्क्षण बाहर निकल आये। राजा बलि ने परम श्रद्धा से प्रभु के लिये उनका अभीष्ट दान दिया।

करबद्ध होकर बोले—"प्रभो ! अपनी वस्तु माप लो"।

शुक्राचार्य ने विचार किया आह ! मैंने कितना प्रयास किया सब व्यर्थ गया। क्या सत्य ही मैं परलोक का अधिकारी नहीं ? क्यों कि हृदयनेत्र शून्य हूँ। राजा बलि हृदय, मस्तिष्क दोनों कार्यों में पूर्ण हैं उसकी स्थिति इहलोक परलोक दोनों स्थानों पर हो गई।

भगवान् ने कहा--बलि! मैं अब अर्पित वस्तु लेता हूँ। इतना कहते ही भगवान् वामन रूप से विराट् बनने लगे। उनकी वक्र स्निग्ध मसृण आकुञ्चित अलकायें आकाश बन गईं। शरीर पर्वतों से भी ऊँचा और विशाल हो गया। शरीर की नाड़ियाँ नदी नद रूप में परिणत हो गईं। नेत्र सूर्य चन्द्र के रूप में हो गये। भगवान् के भयङ्कर विराट् वेष से देवता भी भयभीत हो गये, बलि प्रसन्न और गुरु शुक्राचार्य स्तब्ध थे। भगवान् ने अपने पग से मर्त्यलोक नाप

लिया। ऊपर पैर उठने से आकाश फट गया और प्रभु के पद नख स्पर्श से त्रयताप हारिणी मन्दाकिनी निकल पड़ी। तृतीय पद से पाताल नापते समय प्रभु के पदनख चन्द्रिका से शेष का सकल मणि-मण्डल निस्तेज हो गया। तीनों पग नाप लेने पर भगवान् ने गम्भीर घोष से कहा—राजन्। अभी हमारा अर्ध पग शेष है। कहाँ पर नापा जाय। बलि उद्विग्न हो गये—ओह! हमारा सङ्कल्प क्या अपूर्ण ही रहेगा? गुरु जी ने मुझे सावधान किया था, सब कुछ रहस्य समझ कर भी मैं भात्रावेश में रहा, अब क्या हो? परन्तु··· यह तो भगवान् हैं। इनके द्वारा हमारी पराजय भी विजय है। आह! दान देकर भी क्या मैं दातृत्वपद का भागी नही बन सकूँगा। प्रभु ने मेरे साथ छलना की। भगवान् के समक्ष भक्त का तिरस्कार......? बलि मन ही मन भगवान् का स्मरण करने लगे। परम पावन प्रभु की कामद स्मृति से बलि की बुद्धि परमोज्ज्वल हो गई हर्षित होकर बोले।

प्रभो! जिस ब्रह्मचारी वेष से याचना की, उसी से नापना चाहिये था। इस प्रकार का स्वरूप क्या उचित है?

भगवान् मुस्कराये और बोले—ठीक है भक्तराज बलि! मैं सदैव भक्तों के अनुरूप स्वरूप धारण करता हूँ। इतना कहकर प्रभु पूर्ववत् वामन रूप में आ गये। भगवान् के इस सौम्य रूप को देख कर बलि आल्हादित हो गया तत्क्षण प्रभु के सम्मुख पृथ्वी पर साष्टाङ्ग लेटकर बोले—प्रभो! अपना अर्धपाद भी नाप लीजिये। मेरे राज्य के सकल लोक नप जाने पर भी मेरा शरीर अभी शेष है उसे भी अपनाइये।

प्रभु बलि की पीठ पर चढ़ गये। बलि के ऊपर खड़े देख कर देवताओं ने परम प्रमोद से प्रभु पर पुष्प बरसाये और भूरि भूरि प्रशँसा की और जय जय कार पूर्वक बोले—धन्य है भक्ताग्रगण्य बलि! अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अधिष्ठान् सर्वाधार प्रभु आज भक्त के

आधार पर आधारित हैं। भगवान् ने आधे पग से उसे नाप लिया। अरुण कोमल पदपङ्कज के पावन स्पर्श से बलि भी परम पावन हो गये।

बलि प्रभु के सम्मुख करबद्ध हो कर खड़ा हो गया, विचार करने लगा—ओह ! प्रभु को सर्वस्व समर्पण करके भी क्या मैं दैत्य ही बना रहूँगा ? क्या मेरा दान असात्विक रहेगा ? दानोपरान्त दानपात्र की पूजा किये बिना सबकुछ निरर्थक है। अब क्या हो ? हाँ……अरे ! अभी तो हमारे पास बहुत कुछ है। बलि हर्षित हो कर बोला—प्रभो ! दान के उपरान्त अब मेरी पूजा स्वीकार कीजिए।

'राजन् ! अव मेरी पूजा के लिए तुम्हारे समीप क्या शेष है ! सभी कुछ तो हमारा हो चुका है। यह शरीर भी तो तुम्हारा नहीं' भगवान् आश्चर्यान्वित हो कर बोले—भगवान् ! हमारे पास अभी बहुत कुछ शेष है। भोग्य से भोक्ता उत्तम होता है। शेष समर्पण करने पर भी शेषी अभी शेष है। यह नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ पुष्प रूप में स्वीकार कीजिये।

"राजन् ! क्या नेत्र भी पुष्प होते हैं ?"

हाँ प्रभो ! नेत्र तो पुष्पों से भी उत्तम पुष्प हैं। आपने भी तो शिव को प्रसन्न करने के लिए नेत्र पुष्प चढ़ाया, जिसका परिणत रूप चक्र सुदर्शन आज भी जगत् की रक्षा कर रहा है।

भगवान् ने विचार किया इन्द्रियाँ तो पुष्प रूप में समर्पित कर दीं शेष वस्तुयें कहाँ से लावेगा ? और बोले—हाँ बलि ! तुम्हारे पुष्प तो स्वीकार किये गये।

"भगवान् ! इस शरीर को धूप अगरु रूप में ग्रहण कीजिये।"

ठीक है राजन् ! धूप तो तुमने परम सुन्दर समर्पित की। प्रभु पुनः विचार मग्न हो गये 'यह दीप कहाँ से लायेगा ?'

"प्रभुवर ! वृत्ति समन्वित स्नेहपूर्ण हृदय दीप भी स्वीकार किया जाय।"

भगवान् चकित हो गये 'वाह ! बहुत उत्तम दीप दान किया। ऐसा दीप तो कभी किसी ने प्रदान ही नहीं किया था।'

भगवान् ! यह पञ्च प्राण हवि रूप में स्वीकार किये जाँय। और हस्त पादादि कर्मेन्द्रियाँ अक्षत रूप में समर्पण हैं।

भगवान् आश्चर्यान्वित हो गये ओह ! बलि पूर्ण दानी है। पूजन की सभी अभूतपूर्व सामग्रियाँ उपस्थित कर दीं। अब देखें यह नैवेद्य कहाँ से लावेगा। बलि तुम्हारी, सभी पूजा स्वीकृत हुई।

"भगवान् ! जिसके लिए ऐहलौकिक व पारलौकिक सभी भोग अपेक्षित हैं वही बलि नाम का जीव नैवेद्य रूप में बलिदान हो रहा है। प्रभो इसे अपनाइये—प्रभो ! अब मैं तुम्हारा हूँ। इतना कहते कहते बलि की अश्रुधारा फूट पड़ी।

भगवान् अवाक् हो गये—वाहरे ! बलि तूने सर्वस्व समर्पण करके सभी कुछ प्राप्त कर लिया। मैं सर्वदाता होता हुआ भी ऋणी हूँ। बलि तू मुझसे अपना अभीष्ट वर माँग, तेरे लिये आज मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं।

"कृपालो ! कुछ क्षण पूर्व जो हमारा याचक था जिसे मैंने सब कुछ दान दिया उससे क्या माँगे ?"

भगवान् विचार करने लगे यह राजा है अतः इसे कुबेर का ऐश्वर्य प्रदान किया जाय। राजन् ! तुम्हें मैं कुबेर पद देता हूँ।

नहीं नाथ ! मुझे कुबेर का ऐश्वर्य अपेक्षित नहीं।

"दैत्यराज ! जिस लिये तुम यज्ञ कर रहे थे। जो महान् पुण्यों का फल है वही सुखोपभोग का साधन इन्द्रपद तुम्हें देता हूँ।"

"नाथ ! पुण्य क्षीण होने पर नष्ट होने वाला क्षणभङ्गुर यह इन्द्र पद मुझे नहीं चाहिये।"

भगवान् उसके इस त्याग से परम प्रसन्न हुये और आग्रहपूर्वक बोले—बलि ! जैसे तुम्हें मुझको दिये बिना सन्तुष्टि नहीं होती थी वैसे ही मुझे तुमको दिये बिना शान्ति नहीं मिल रही है। मुनि दुर्लभ ब्रह्मलोक का अक्षय सुख तुझे देता हूँ। बलि तू इसे स्वीकार कर ले।"

बलि बोला—प्रभो ! इन साधारण नश्वर सुखों का लालच न दो सिन्धु को पाकर विन्दु को कौन ग्रहण करेगा।

हृष्ट पुष्ट बलिष्ट समस्त भोग सम्पन्न विपक्षविरहित समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट् को मानुषानन्द होता है। मानुषानन्द से शत गुणित गन्धर्वानिन्द, गन्धर्वानिन्द से शतगुणित देवता का आनन्द, देवानन्द का शत गुणित इन्द्र का आनन्द होता है, और इन्द्र के आनन्द से सौगुना वृहस्पति का आनन्द और वृहस्पति के आनन्द से सौगुना प्रजापति का आनन्द, और प्रजापति का सौगुना आनन्द ब्रह्मा का आनन्द है। प्रभो ! पद्मयोनि का आनन्द भी तो सिन्धु का विन्दु मात्र है। आप्त काम पूर्ण काम आत्माराम परम निष्काम प्रत्यक् चैतन्याभिन्न शान्ति सुधामय आनन्द सिन्धु स्वरूप तो केवल आप ही हैं। आप को छोड़कर अन्य सभी आनन्द क्षण-स्थायी हैं। प्रभो ! मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। आप मुझे स्वीकार किये रहें बस यही चाहता हूँ।

भगवान् भक्त से पराजित हो चुके थे बोले—बलि ! तुमधन्य हो। तुमने सर्वस्व देकर मुझे ले लिया। मैं तुम्हें छलने आया था पर स्वयं छला गया। बलि मुझे कुछ तो अवसर दो।"

दीनबन्धु कृपालो ! अशरणशरण ! आपके साक्षात्कार से मैं सभी कुछ पा चुका हूँ। दैत्यवँश में उत्पन्न होने से कदाचित् यदि मेरा जन्म हो तो प्रभो आपके चरणों में वैसी ही अनुरक्ति हो जैसी सरस कमल में मधुप की होती है। नाथ ! मुझे अपने पद पङ्कजों की अटल रति दीजिये। इतना कहकर बलि प्रभु के चरणों पर गिर

पड़ा। भगवान् का हृदय द्रवित हो गया। प्रभु ने उठाकर हृदय से लगा लिया। भगवान् और भक्त के मिलन को देखकर सभी आनन्द मय हो गये। विन्दु सिन्धु में मिल गया। इतना कहकर वेदव्यास भी आनन्द में डूब गये। कुछ क्षण विराम लेकर बोले—सूत ! बलि और भगवान् के मिलन को देखकर देवताओं ने आकाश से पुष्प वर्षा की और जयजय कार करते हुये बोले—बलि ! आज धन्य हो गया। गुरु द्वारा भगवान् की पहचान करके हृदय और मस्तिष्क पूर्ण होने से इहलोक और परलोक दोनों पर विजय प्राप्त की और भगवान् को पहचानने पर भी शुक्राचार्य अर्थावेष्टित मस्तिष्क होने के कारण इहलोक परलोक दोनों ही स्थानों से वञ्चित रहा।

हे सूत ! अर्थावेष्टित मस्तिष्कवान् हृदय शून्य प्राणी दैत्य होता है और मस्तिष्क सहकृत हृदयवान् व्यक्ति देवता होता है। मस्तिष्क और हृदय दोनों का समन्वय वाला व्यक्ति पुरुषोत्तम होता है। उस पर मैं तुम्हें एक ज्वलन्त उदाहरण दे रहा हूँ।

त्रेता युग में राम की कथा तो तुमने सुनी ही है। राम की कथा में देव दानव मानव के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अर्थावेष्टित मस्तिष्क वाली कैकेयी थी जो अर्थावेश के कारण हृदयशून्य थी। उसका हृदय स्वार्थ के कारण कुचल गया था। भरत में देवत्व था वह मस्तिष्क सहकृत हृदयवान् थे। राम पुरुषोत्तम के उदाहरण थे। राम में हृदय और मस्तिष्क दोनों का यथेष्ट समन्वय था।

सूत ! विचार करो अर्थावेशित मस्तिष्क दोनों लोकों की सत्ता खो बैठता है। कामावेशित मस्तिष्क आवेश के उपरान्त सँभाला जा सकता है। क्रोधावेशित मस्तिष्क भी कदाचित् उठ सकता है, परन्तु अर्थावेशित मस्तिष्क कभी भी परलोक में स्थान नहीं पा सकता। कैकेयी ने पति और पुत्र दोनों का ही त्याग कर दिया। अर्थ से आविष्ट होने के कारण उसने अपने पति के मरण की ओर दृष्टि नहीं डाली। उसने अपने वैधव्य का भी विचार नहीं किया।

भरत त्यागशील थे। भावुकतावश उन्होंने राज्य को ठुकरा दिया। राज्य देने पर वह रो पड़ते हैं, स्वार्थ से प्रेरित कैकेयी की वाणी से भी भरत दुखी होते हैं। अपनी माता को भी भला बुरा कह डालते हैं। यह सुनकर सूत बोले—गुरुवर ! अर्थावेशित मस्तिष्क होने के कारण कैकेयी किस प्रकार दैत्य थी यह बात स्पष्ट रूप से समझाइये।

व्यासजी बोले—हे सूत ! कैकेयी का दैत्यत्व स्पष्ट है। लोकाभिराम राम को वनवास देना क्या दैत्यत्व नहीं ? पति के मरण की चिन्ता न करके अर्थावेश से अपना अस्तित्व रखने का विचार क्या दैत्यत्व नहीं ? भारतीय नारी का वैधव्य लोक परलोक दोनों से ही अस्तित्व हीन कर देता है। परन्तु वह अर्थ से इतनी आविष्ट थी कि अपने वैधव्य की भी उसने कुछ हानि नहीं समझी। स्वार्थ से उसका हृदय कुचल चुका था। वह केवल अर्थ से ही अपना अस्तित्व समझती थी। तभी तो भरत का राजा होना उसे प्रिय था। भले ही प्रजा तिरस्कार करे, पतिदेव मृत्युङ्गत हो जाँय संसार में अपकीर्ति रहे, पर स्वार्थसिद्धि हो वही उसने किया। परन्तु दानवत्त्व का अस्तित्व कहीं नहीं रहता।

हे सूत ! कैकेयी, पति, पुत्र, प्रजा, परिजन सभी की दृष्टि मे उतर गयी। इतना ही नहीं ! आज भी संसार उसे कलुषित दृष्टि से देखता है। उसके नाम से भी घृणा करता है। तभी तो संसार में कोई अपनी कन्या का नाम कैकेयी नहीं रखता। हे सूत ! इस प्रकार अर्थाविष्ट मस्तिष्कवान् व्यक्ति दैत्य बनकर सर्वत्र सत्ताहीन हो जाता है। यह सुनकर सूत जी परम प्रसन्न हुए और बोले—पूज्य चरण ! आपकी सुधावर्षिणी वाणी से मुझे तृप्ति नहीं मिल रही है अतः भरत के देवत्व को भी बतलाने की कृपा कीजिये।

व्यास जी मुस्करा कर वोले—हे सूत ! भरत का देवत्व सुनिये। उसके स्मरण से हमारा भी हृदय गद्गद् हो जाता है। भरत देवता

थे उनके हृदय में उनका मस्तिष्क डूब चुका था। जिस समय भरत ननिहाल से अपने गृह आते हैं और वहाँ की दुर्दशा देखते हैं। अपनी माता कैकेयी की अर्थाविष्ट दशा देखकर वह परम दुखी होकर रो पड़ते हैं। भरत विचार करते हैं कि अर्थाविष्ट मस्तिष्कवती कैकेयी से ही हमारा जन्म हुआ माता के साहचर्य से हमारा भी परलोक नष्ट हुआ अब क्या हो। माता के रक्त से निर्मित मैं क्या अभी कहीं भी अस्तित्व रख सकता हूँ। वह अधीर हो उठे। जीव यात्रा और जीवन यात्रा दोनों ही विनष्ट हो चुकी हैं अब कहाँ जाऊँ? प्रभु पदपङ्कजों के अतिरिक्त हमारा कोई अवलम्ब नहीं। जीव यात्रा और जीवन यात्रा की तुलना करने पर भरत जीव यात्रा की सुरक्षा के लिए ही तत्पर हो जाते हैं। जीव की जीवन यात्रा तो शरीर सम्बन्ध तक ही सीमित है और जीव यात्रा तो इहलोक परलोक तक व्यापक है। माता एवं विमाता गुरु तथा प्रजाजन सबके आग्रह करने पर देवराज के पद से भी माननीय सार्वभौम राज्य ठुकरा देते हैं। यही नहीं राम के द्वारा आग्रह करने पर भरत रो पड़ते हैं। भरत वन में ही रहते हैं, वास्तव में राम का नहीं भरत का ही वनवास हुआ। भरत हृदय प्रधान होने के कारण यह सब सहन करने में ही सुख समझते थे। यही कारण है कि भरत को राम, कौशिल्या, प्रजाजन, जनक, आदि सभी प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। हृदयवान् व्यक्ति को सभी चाहते हैं। यही कारण है कि भरत की कथा पढ़ते या सुनते समय जितना अश्रुपात (करुणाक्रन्दन), होता है, उतना राम की कथा में भी नहीं। इस प्रकार भरत में पूर्ण देवत्व है। भरत का परलोक तो बन ही चुका था, इहलोक में भी उनका पूर्ण अस्तित्व है।

हे सूत! हृदयवान् व्यक्ति पर सभी कृपा करते हैं। पशु भी हृदयवान् व्यक्ति पर प्रेम करते देखे जाते हैं। उत्तर देश में विशेष जाति के वृषभ होते हैं। जो मनुष्यों को मारते, काटते, खूँदते हैं परन्तु स्त्री और बालकों को देखकर नतमस्तक हो जाते हैं और

यही नहीं आज तक राजाओं ने भी स्त्री बालकों को प्राणदण्ड नहीं दिया। हे सूत ! प्रायः आज भी राजाओं का यह नियम है कि स्त्री एवं बालकों के लिए अपराधी होने पर भी प्राणदण्ड की व्यवस्था न की जाय। इसीलिए यह सनातन नियम चला आ रहा है कि चक्रवर्ती सम्राट् के समक्ष हृदयप्रधान जाति ब्राह्मण, स्त्री, बालक सदैव अवध्य रहे क्योंकि यह प्राणी हृदय प्रधान हैं और हृदय प्रधान स्वयं नहीं बिगड़ता, उसे मस्तिष्क वाला ही बिगाड़ता है।

यह सुनकर सूत जी पुनः बोले--पूज्यपाद् ! आपने देव और दानव का विश्लेषण करके उदाहरण देकर भली भाँति समझा दिया, अब मानवता की उत्तमता बताइये।

श्री व्यास जी बोले--सूत ! मानव का उदाहरण श्रीराम हैं। उनमें पूर्ण पुरुषोत्तमता है, राम मतिमान् और हृदयवान् दोनों ही रहे। मतिमान् होने के कारण वह अर्थ को नहीं त्यागते, राज्य करना चाहते, परन्तु धर्म को त्यागकर नहीं, क्योंकि धर्म हृदय का गुण है। मस्तिष्कवान् होने से ही उन्होंने वापस लौटकर राज्य किया। अतः सिद्ध है कि वह राज्य चाहते थे। मस्तिष्क का सपक्ष धर्म ब्रह्मचर्य है जो राम में पूर्णतया उतर चुका था। वनवास होने पर भगवान् विचार करते हैं कि परम सुन्दरी नारी को लेकर यहाँ वन में कैसे रहें। उन्होंने विचार किया महापुरुषों के सकाश से ही पुरुष ऊँचा उठता है। वह नीचे नहीं गिरता। जल जब अपने पिता पितामह तेज और वायु का सङ्ग करता है। तभी बादल बनकर आकाश में उच्च स्थिति पाता है और जब उसका सङ्ग छोड़ देता है तब निम्नगति होकर बहने लगता है। ऐसा बहता है कि उसे कभी शान्ति नहीं मिलती क्यों कि आकाश का कार्य वायु और वायु का कार्य तेज और तेज का कार्य जल है, तथा जल का कार्य पृथ्वी है। अतः जल का पिता तेज और पितामह वायु है। इस प्रकार विचार करके भगवान् राम महापुरुषों ऋषियों के सानिध्य में ही

रहते हैं .उनके दुर्घर्ष ब्रह्मचर्य का प्रभाव लङ्का में रावण पर भी पड़ा। पूज्य के सानिध्य में रहने वाला कभी भी पतित नहीं हो सकता।

हे सूत ! जो भी चरित्र भ्रष्ट देखे जाते हैं, उसका कारण उनका पूज्य के प्रति वैमुख्य है। राम के ब्रह्मचर्य से रावण प्रभावित होता है। जब राम के साथ रावण का युद्ध होता है और अपनी सेना के विध्वँस होने पर वह कुम्भकर्ण को जगाता है उस समय की बातचीत से राम के ब्रह्मचर्य का प्रभाव द्योतित होता है। रावण कहता है, हे भैया ! युद्ध के लिए उठो।

"क्या हुआ तात !" कुम्भकर्ण अङ्गड़ाई लेता हुआ बोला।

"रामाङ्गना जानकी को मैं हर लाया हूँ" रावण ने उद्विग्न होकर कहा।

"क्या उसका भोग किया ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"वह राम से इतर के साथ बोलना तक नहीं चाहती ?

"तो तुमने राम के वेष का आश्रय क्यों नहीं लिया ?"

"क्या कहूँ भैया ! जिस समय मैं नील कमल के समान राम के कृत्रिम रमणीय रूप को धारण करता हूँ, उस समय मेरे हृदय में कलुषित काम भावना ही नहीं रहती"।

हे सूत ! यह है राम के ब्रह्मचर्य का प्रभाव। सपक्ष में ही नहीं विपक्ष पर भी प्रभाव पड़ा। राम के ब्रह्मचर्य का प्रभाव इधर अयोध्या वासियों पर भी पड़ा। राम के वनवास काल में उनके भाइयों का चरित्र भी परमोज्ज्वल आदर्शवान् रहा। सम्भवतः समस्त अयोध्यावासी चौदह वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते रहे हों, यह है ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा।

मस्तिष्क के धर्म ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त उनमें हृदय का धर्म भी पूर्णतया था। वनवास के समय सभी का धैर्य छूट जाता है। राजमाता कौशिल्या, भाई लक्ष्मण, महाराजा दशरथ, यहाँ तक कि गुरु वसिष्ठ भी अधीर हो उठते हैं। परन्तु भगवान् का धैर्य अटल रहता है। उनकी मुखश्री यथावत् हर्ष विषाद शून्य प्रफुल्ल रही। इस प्रकार राम में उभयपक्षता सिद्ध है।

सूत बोले--"प्रभो ! कृपया अब हृदय और मस्तिष्क के सपक्ष विपक्ष धर्म समझाइए।"

हे सूत ! हृदय को साथ लेकर शास्त्रीय मस्तिष्क जब संसार में वर्तता है तब उसमें सत्य नियम, प्रतिज्ञा, ब्रह्मचर्य इत्यादि सपक्ष धर्म रहते हैं। शास्त्रीय मस्तिष्क में सपक्षता आ जाती है और पाशविक मस्तिष्क में अर्थत्व द्वैषत्व आदि विपक्ष धर्म आ जाते हैं। हृदय-साहचर्य से प्रायः शास्त्रीय मस्तिष्क में विपक्ष धर्म नहीं आते हैं। शास्त्रीय मस्तिष्क सहकृत हृदय प्रधान पुरुष में सपक्ष धर्म करुणा, दया, भक्ति वात्सल्य, उदारता, श्रद्धा आदि होते हैं। और पाशविक मस्तिष्क सहकृत हृदय में अपूर्ण अनात्म पदार्थों में राग मोहासक्ति कटुता आदि विपक्ष धर्म आते हैं।

व्यास द्वारा विवेचन सुनकर सूत आल्हाद सिन्धु में निमग्न हो गये तथा विचार की परम्परा और विधि समझ कर सूत जी विचार के महत्व को समझ गये।

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषि-दत्त-कला

संसार भोगान् विषमन्यमानान् ।
औदास्य भावं सततं वहन्तीम् ।।
पप्रच्छ राजा महिषीं स्वकीयाम् ।
किमस्ति चित्ते तव पद्म नेत्रे ।। ४ ।।

श्री वेदव्यास जी के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर सूत जी बोले—प्रभो ! आपके वचनामृतों से मुझे बड़ा ही सुख मिला——प्रभुवर ! अभी एक संशय मुझे और है, यदि आज्ञा हो तो कहूँ ?

व्यास जी ने कहा——हाँ वत्स! उसे अवश्य कहिये क्या संशय है ?

गुरुवर्य ! आपने ब्रह्मदेव के माहात्म्य श्रवण को ही सबका मूल बताया है। परन्तु माहात्म्य श्रवण में रूचि कैसे हो ? उसके लिये क्या उपाय है ? यदि आप कहें स्वयं ही माहात्म्य श्रवण होगा, यह भी सम्भव नहीं, यदि स्वयं ही माहात्म्य श्रवण होता तो सारा जगत् माहात्म्य श्रवण कर लेता, पर मैं देखता हूँ कि मुझसे भी अधिक दुःखी एवं खिन्न व्यक्ति भी माहात्म्य श्रवण में रुचि नहीं रखता। गुरुवर ! इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न को सुनने पर दयानिधि श्री वेदव्यास जी को बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने कहा——सूत! सुन, मैं तुझे मोक्ष का मूल कारण बताता हूँ। सन्त समागम ही सब दुःखों के नाश करने का हेतु है।

परमार्थ फल प्राप्त करने के लिए सत्सङ्ग बीज है। तेरी भी ऐसी जिज्ञासा पूर्ण अवस्था महर्षियों में सत्सङ्ग करने कराने से ही हुई। आज इस तत्त्वोपलब्धि में तुम्हारी जो चेष्टा है वह नैमिष ऋषि मण्डल के सत् सङ्ग का ही फल है। सत्सङ्ग के बिना सच्चा कल्याण किसका और कब हुआ है ? व्यवहार में भी ऐसा ही है, जो जैसी सङ्गति करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। मैं तुझे इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही रोचक और ज्ञानपूर्ण आख्यान कहता हूँ। प्राचीन काल की वार्ता है कि विजय देश में ज्ञानदृष्टि नाम का एक राजा निवास करता था। उसके बल और वैभव से सभी नगर प्रभावित थे। उसके समदृष्टि और विषमदृष्टि नाम के दो पुत्र थे। जो अतीव सुन्दर गुणवान् तथा सब विद्याओं में निपुण थे। उन्हें मृगया का व्यसन था। एक बार मृगया की वासना से वे दोनों भाई ससैन्य धनुष बाण लेकर विन्ध्याचल के भयङ्कर अरण्य में प्रविष्ट हुए। उस भयङ्कर कानन में वे दोनों राजकुमार हिंसक पशुओं का आखेट करने लगे। अपनी बाण विद्या के चातुर्य से उन्होंने अद्भुत कौतुक दिखाया, किसी सिंह को मारा तो किसी चीता को आहत कर डाला। कहीं पर व्याघ्रों के दल धराशायी कर दिये। असंख्यों रीछ मृग आदि उनके बाणों के विमान पर बैठकर यमलोक चले गये। इस प्रकार आखेट क्रीड़ा में रत हुए दोनों भाइयों को बहुत विलम्ब हो गया। वे लोग मृगया मग्न ही थे कि अतीव वेग से आँधी आ गई। वायु वेग से सिकता पाषाण खण्डों की वर्षा होने लगी। आकाश रेणु से व्याप्त हो गया। मानो भयङ्कर बातूलपुञ्ज से भयभीत तमदल इसी अरण्य में छिपने आया हो। समस्त सेना उस प्रलय को देखकर त्राहि त्राहि कर उठी कोई किसी को नहीं पहचान पा रहा था, सब तितर वितर हो गये। कोई पेड़ से टकराया तो कोई पाषाणों के आघात से कराहने लगा। कोई खाइयों में गिरा तो कोई झाड़ियों में उलझ गया, इस प्रकार सारी सेना इतस्ततः होकर रोने चिल्लाने लगी। सारा अरण्य करुणा क्रन्दन से पूर्ण

हो गया। मानों यहाँ साकार ही करुणा आ गयी हो। समदृष्टि और विषमदृष्टि अश्वपर सवार थे। वे भी इस अन्धकार में भागे। वे दोनों भ्राता भी परस्पर पृथक् हो गये। विषमदृष्टि वायु के थपेड़ों से आहत होता हुआ बहुत दूर निकल गया। कुछ दूर चलने के उपरान्त वायु कुछ शान्त हुई, प्रकाश मिला और वह एक तपस्वी के आश्रम में पहुँच गया। आश्रम अतीव मनोरम था। इसके चतुर्दिक् कदलीदल थे, जिन्हें शीतल मन्द वायु झोंके देकर झुला रही थी। लताओं के क्रोड़ स्थल में बैठे पुष्प मुस्करा रहे थे। वृक्षों पर कोयल पञ्चम स्वर में सङ्गीत सुना रही थी। सघनतरु छाया में वह दिव्य आश्रम विश्रान्ति का आनन्द दे रहा था। समीप में खजूर का एक मनोरम वृक्ष था। विषमदृष्टि ने उस रमणीय शान्ति प्रद आश्रम में धीरे से प्रवेश किया। वहाँ उसे एक परम लावण्यवती षोडश वर्षीया ललना दृष्टिगोचर हुई। उस कोमलाङ्गी कन्या की कान्ति अग्नि तप्त स्वर्ण के सदृश दैदीप्यमान् थी। मानों वनश्री ही इस रूप में उपस्थित हो, अथवा विष्णु से रूष्ट हो कमलासना इन्दिरा ही तपस्या हेतु वन में आयीं हों। उस तापसी को देखकर राजकुमार विषमदृष्टि विस्मित हो गया और बोला--कमलानने! तू कौन है? इस निर्जन अरण्य में एकाकिनी कैसे रहती है? तू किस महाभाग की कन्या है? तू एकाकिनी है या अन्य भी कोई साथ है? तू साक्षात् रति या इन्दिरा प्रतीत होती है। या इन्द्राणी है? तेरे परिचय के लिए मेरा मन उतावला हो रहा है। राजा की बात सुनकर वह शुद्ध अन्तःकरण वाली कन्या बोली—हे राजकुमार! तुम अन्दर प्रवेश कर इस आसन को अलङ्कृत करो। अतिथि सत्कार हम सब का परम धर्म है। आप आँधी पानी एवं इस प्रचण्ड विप्लव से उद्विग्न प्रतीत होते हैं। अतः इस खजूर से अश्व को बाँधकर यहीं बैठकर विश्राम कीजिए फिर आपको मेरा वृत्तान्त विदित हो जायेगा।

कन्या के कथनानुसार राजपुत्र ने वैसा ही किया फिर कन्या ने स्वागत में मधुर फल व जल प्रस्तुत किया। राजपुत्र जलपान करके विश्राम करने लगा। कुछ क्षणों के बाद वह कन्या राजपुत्र से कहने लगी :

हे राजपुत्र! शिव की भक्ति करने वाले तपोनिधि नाम के मुनि हैं, उन्होंने अपने तपोवल से सम्पूर्ण स्वर्ग पर ही विजय प्राप्त कर लिया है। वे उत्तम ज्ञानी हैं, अन्य परम ज्ञानी भी उन्हें मान देते थे मैं उनकी धर्म कन्या हूँ। मेरा नाम विद्युत्कला है, अब मैं आप को अपनी उत्पत्ति सुनाती हूँ। एक समय इस वीणा नदी में विद्युत्प्रभा नामक एक सर्वाङ्ग सुन्दरी विद्याधरी स्नान करने के लिए आयी। उसी समय वङ्ग देश का राजा अजय सेन भी वहाँ आ पहुँचा वह राजा परम रूपवान् साक्षात् कामदेव सा ही था। उस राजा ने लावण्यवती अप्सरा को जलक्रीड़ा करते हुए देखा। कौशेय आर्द्रवस्त्रों में उस अप्सरा का अनुपम मादक लावण्य दृष्टिगोचर हो रहा था। उस विद्याधरी के रूप लावण्य से राजा अजयसेन मुग्ध हो गये। राजा ने उससे विवाह की प्रार्थना की। उसका भी मन राजा के रूप लावण्य पर मोहित था। दोनों का वहीं पर गन्धर्व विवाह हो गया। नदी तट के रमणीय निकुञ्जों में वह अधिक समय तक विहार करते रहे। उन दोनों की प्रणय लीला कई वर्षों तक चलती रही। उस राजर्षि के अमोघ वीर्य से विद्याधरी ने मुझे जन्म दिया। मेरे जन्म से उसने अपने को कलङ्कित समझा। और वह मुझे यहीं नदी तट पर तृण पुञ्ज में लिटा कर तथा कोमल पल्लवों से आच्छादित कर देवलोक को चली गई। राजा अजयसेन ने भी मेरी कोई चिन्ता न की। वह भी अपने नगर को चला गया। मैं नदी तट पर क्षुधातुर हो विलखने लगी। उसी समय महर्षि तपोनिधि सन्ध्योपासन के लिए यहाँ आ गये। मुझे इस दशा में देखा। उनके हृदय में करुणा उमड़ पड़ी, दयार्द्र होकर उन्होंने मुझे परम प्रेम से उठा लिया और अपने आश्रम में ले आये। माता

पिता की भाँति उन्होंने मेरा अति स्नेह से पालन पोषण किया। उनकी छत्रछाया में मैं इस अवस्था को प्राप्त हुई। अतएव मैं उनकी ही धर्म कन्या हूँ। मैं सदैव सावधानी व निरालस्य से उनकी सेवा में तत्पर रहती हूँ। उनके सामर्थ्य से मुझे यहाँ कोई भय नहीं। राक्षस अथवा देवता कोई भी दुष्ट बुद्धि यहाँ प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई दुर्वासना से यहाँ आने का दुःसाहस भी करे तो उसका नाश हो जावे। इस प्रकार मैं यहाँ परम शान्ति से मुनि की सेवा में रत रहती हूँ। और उनके पावन सत्सङ्ग से आह्लाद को प्राप्त होती हूँ। यही मेरी आत्म कथा है। आप स्वल्प काल तक प्रतीक्षा कीजिये तब तक मेरे पिता जी आते होंगे। उनसे अपना सभी वृत्तान्त कहना वह आप के समस्त मनोरथों को पूरा कर देंगे।

विद्युत्कला के भाषण से राजपुत्र विषमदृष्टि बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसका सभी श्रम उस ललना के वार्तालाप से दूर हो गया। इतने में तपोनिधि मुनि भी आ गये। राजपुत्र ने उठकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया तथा अपना परिचय दिया। तपोनिधि ने आशीर्वाद देकर उसे बिठाया। मुनि ने योगदृष्टि से जान लिया कि राजपुत्र विद्युत्कला पर मोहित है और विद्युत्कला का हृदय भी राजपुत्र को स्वीकृत कर चुका है। उत्तम योग देखकर मुनि ने राजपुत्र को विद्युत्कला समर्पण कर दी। उसको पाकर राजपुत्र परम सन्तुष्ट हुआ और उसे साथ लेकर उसने अपने नगर को प्रस्थान किया। चलते समय मुनि ने दोनों को हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया और कहा कि इस कन्या की सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखना। राजपुत्र कन्या को लेकर अपने नगर आगया। ज्ञानदृष्टि परम सुन्दरी वधू पाकर परम सन्तुष्ट हुआ। राजा ने अतीव समारोह से विषमदृष्टि का पाणिग्रहण संस्कार कराया।

बिवाहानन्तर विषमदृष्टि अपनी सुन्दरी पत्नी के साथ राज-महलों नदी तटों, उपवनों कुञ्जों में विहार करने लगा। विद्युत्कला

के लिए राजा नाना प्रकार की भोग सामग्रियाँ उपस्थित करता था, परन्तु वह भोग साधनों से उदासीन रहती थी। राजपुत्र को ज्ञात हो गया कि विद्युत्कला भोग साधनों से उदासीन है, उसे इन साधनों से कोई भी सुख प्राप्त नहीं होता। एक दिन एकान्त में राजपुत्र बोला—"प्रिये! मैं तुमसे अतीव प्रेम करता हूँ, तुम्हारे लिए अनेक भोगोपकरण एकत्रित करता हूँ परन्तु तुम इनसे किञ्चित् भी प्रसन्न नहीं होती। तुम्हारा प्रेम मुझ पर भी पूर्ण नहीं, तेरा मधुर हास्य मेरे मन को मथता रहता है परन्तु तुम मेरी ओर से विमुख हो, तुम्हें विषयों की किञ्चित्मात्र चाह नहीं। क्या मेरे यह सुख वैभव तुझे प्रिय नहीं लगते? मेरे स्वर्गोपमम् सुसज्जित राजभवन में तू उदास क्यों है? यह सुखोपभोग तुम्हें आकर्षित क्यों नहीं करते? तू नितान्त अरसिका है फिर तेरी सङ्गति से मुझे सुख कैसे होगा? मैं तुझे सुखोपभोग के लिये लाया परन्तु तू मेरे लिये एक समस्या बन गई। मैं निरन्तर तेरा ध्यान करता रहता हूँ परन्तु न जाने तू क्या चिन्तन करती रहती है। मैं तुझे प्रेमपूर्ण वाणी से प्राणेश्वरी! हृदयेश्वरी! आदि सम्बोधनों से पुकारता हूँ पर तू कुछ भी नहीं सुनती। मैं अन्तः पुर में आकर तुम्हें बाहुपाश में बाँधने की चेष्टा करता हूँ पर तुम निश्चेतन सी बैठी हुई किसी अगाध चिन्तन में रहती हो। मुझसे यह भी नहीं कहती कि हे नाथ! कब आये—क्या चाहते हो? मैं जब अन्तः पुर से बाहर हो जाता हूँ तब तू शून्य सी नेत्र बन्द किये हुये न जाने क्या चिन्तन करती रहती है। विषय विमुख काष्ठ की पुत्तलिका सी तेरी सङ्गति से मुझे क्या लाभ, तेरे विना मुझे एक भी क्षण सुख नहीं, जैसे भ्रमर कमलिनी, हरिण रागिनी, शलभ दीप ज्योति पर उन्मत्त होता है वैसे ही मैं तुझ पर उन्मत्त हूँ। तुझे मेरी शपथ है, सत्य बतादे कि मुझसे और मेरे द्वारा सुसज्जित दिव्य भोगों से तू विरक्त क्यों हैं।

इतना कहकर विषमदृष्टि उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। "राजपुत्र विषमदृष्टि की विफलतापूर्ण बातें सुनकर वह विदुषी क्या बोली।" ऐसा कहते हुये व्यास जी ने सूत की ओर देखा।

❀ विद्युत्कला-विषमदृष्टि-संवाद ❀

पञ्चमोऽध्यायः

भोगों की असारता

किमस्ति तत्त्वं प्रियकारि वस्तुतः,
किमीरितं विप्रियकारि मे वद ।
अनिष्ट मिष्टं न च वेद्मिमन्दधी,
स्त्वमेव तत् बोधयितुं प्रवर्तसे ।।५।।

सस्मितवदना विद्युत्कला अपने पति देव को युक्तिवाद के द्वारा तत्त्व बोध कराने के लिये कहने लगी—आर्य पुत्र ! मैं आपसे पूर्ण प्रेम करती हूँ और आपको सुखी बनाने का निरन्तर विचार भी करती हूँ, परन्तु मेरे हृदय में एक अति गूढ़ समस्या है। उसके ऊहापोह में निरन्तर लगी रहती हूँ, उसी से मुझे अवकाश नहीं मिलता जो मैं आपसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप कर सकूँ। वह इतनी गहन समस्या है कि मैं उसके समाधान के लिए अहोरात्र निरत रहती हूँ, परन्तु मैं उसको सुलझा नहीं पाती।

विद्युत्कला की बातें सुन कर राजपुत्र बोला—प्रिये ! उस समस्या का मुझे भी तो ज्ञान होना चाहिए। ऐसा कौन सा गूढ रहस्य है जो समझ में नहीं आता।

विद्युत्कला बोली—प्राणनाथ ! सुनो, मैं निरन्तर यह सोचती हूँ कि जगत् में प्रिय वस्तु क्या है और अप्रिय क्या है। अत्यन्त गूढ़ विचार करने पर भी इस रहस्य को नहीं जान सकी। आपही तात्विक दृष्टि से विचार कर बोध कराइये। यह सुन कर विषमदृष्टि

बोला—"वाह रे ! वाह" इस स्वल्प बात के लिए इतनी चिन्ता। हन्त ! लघुतम विचार के लिए इतना गूढ़तम चिन्तन। इसी निस्सार बात के लिये रात्रि दिन विचार मग्न रहती हो। स्त्रियाँ बड़ी मूढ़ होती हैं। ऐसी तुच्छ बात को भी नहीं जान सकतीं। प्रिय क्या है और अप्रिय क्या ? अरे ! इसको पशु पक्षी भी समझते हैं। कीट पतङ्गों को भी इसका ज्ञान है। प्रिय में सबकी प्रवृत्ति और अप्रिय से सबकी निवृत्ति होती है। जिससे सुख होता है, वह प्रिय और जिससे दुख होता है वह अप्रिय। प्रिये ! इसमें इतने विचार की क्या आवश्यकता, अब तू विचार करना छोड़ दे।

पति की मधुर बातें श्रवण करके विद्युत्कला मधुर मुस्कान पूर्वक कहने लगी—आर्य पुत्र ! आप स्वमति के अनुसार सत्य ही कहते हैं। वस्तुतः स्त्रियाँ मूढ़ होती हैं, उनके पास प्रौढ़ विचार नहीं होते। हृदय प्रधान होने के कारण वे गम्भीर विवेचन नहीं कर सकतीं। राजन् ! आप तो बुद्धिमान् हैं, सूक्ष्म विवेचक हैं। अतः इस हमारे प्रश्न को स्पष्ट रूप से समझा दीजिये।

आपने प्रिय और अप्रिय की जो परिभाषा की है उसमें मुझे बहुत शङ्का है। आपने बताया कि सुख देने वाला प्रिय और दुःख देने वाला अप्रिय है, परन्तु राजन् ! एक ही पदार्थ स्थल और प्रसङ्ग परिवर्तन होने पर सुखदायी से दुखदायो और दुखदायी से सुखदायी हो जाता है। उस दशा में उस पदार्थ में सुखात्मकता एवं दुखात्मकता का निश्चय नहीं किया जा सकता। विश्व में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो सर्वकाल में सबके लिए सुखद अथवा दुखद हो। तब प्रिय एवं अप्रिय का निश्चय कैसे हो सकता है। उदाहरणार्थ अग्नि को ही देखिये। भिन्न-भिन्न समय में उसके भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। विभिन्न स्थानों में विभिन्न परिणाम होते हैं और प्रथक्-प्रथक् आकार में प्रथक्-प्रथक् उपयोग होता है। एक ही अग्नि शीतकाल में सुखकर और ग्रीष्मकाल में दुःखकर हो जाती

है। देश, काल, भेद से प्रिय अप्रिय हो जाती है। न्यूनाधिक मात्रा से पृथक् पृथक् गतिविधि एवं फल हो जाते हैं। यही बात पुत्र, स्त्री, धन, ऐश्वर्य एवं राज्य मान की भी है। यह सभी पदार्थ प्रिय होकर भी अप्रिय हो जाते हैं। आप अपने पिता को ही देखिये, उनके समीप सभी सुखोपभोग की सामग्रियाँ हैं। सन्तति, सम्पत्ति, स्त्रियाँ, राज्य, मान सभी कुछ उनके समीप हैं तथापि वे नित्य दुःखी रहते हैं। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो उपरोक्त पदार्थों से वञ्चित होने पर भी परम सुखी हैं। यदि आप कहें कि सुखदायक विषयभोग सम्पूर्ण न मिलने के कारण मनुष्य इनसे सुखी नहीं होता, तो नाथ ! यह बताइये कि वे सम्पूर्ण रूप में अद्यावधि किसी को प्राप्त भी हुये हैं ? विषय सुख जिन्हें आप प्रिय समझ रहे हैं वह कभी पूर्ण नहीं, क्यों कि यह स्वयं अपूर्ण हैं। हे नाथ ! इसका तात्पर्य यह है कि विषय सुखकर नहीं है। संसार के सभी सुख-दुख मिश्रित हैं। ऐसा बुद्धिमान् कौन होगा कि जो विषमिश्रित मोदक को जान करके खाने को प्रस्तुत होगा। ठीक यही दशा संसार की है।

विद्युत्कला की बातें विषमदृष्टि अत्यन्त ध्यान से सुन रहा था। बोला—"प्रिये ! तुम्हारी बातें बड़ी गम्भीर हैं इसका स्पष्टीकरण विशेष रूप से कीजिये।"

विद्युत्कला बोली—"नाथ ! जो सुख दुख का विवेचन किया है, वह अपूर्ण है। अब मैं आपको दुख का अस्तित्व समझाती हूँ। दुख के सामान्यतया दो भेद हैं। मानसिक और शारीरिक। मानसिक दुख का मूल स्रोत इच्छा है, रोग पीड़ा आदि से जो दुख होता है वह शारीरिक है। मानसिक दुख अत्यन्त भीषण दुख है। यही वस्तुतः दुख है, इस दुख ने यावत् संसार को ग्रसित कर लिया है। इच्छा रूपी बीज से दुख का वृक्ष उद्भूत हुआ है। इसके वशीभूत होकर इन्द्रादि देवों ने भी दासत्व स्वीकार किये

हैं। इच्छा शेष रहने पर भी यदि कोई कहता है कि मैं सुखी हूँ, तो यह कथन केवल सन्निपाती की जल्पना है। जिसमे जितनी अधिक इच्छा होगी वह उतना ही अधिक दुखी होगा। विविध इच्छाओं के अपार भार से आक्रान्त होने पर भी मानव यदि सुखी बनना चाहता है तो वह महा मूढ़ है। उसका प्रयत्न वैसा ही है जैसा खुले मेंढकों को तौलना। इसीलिए मनुष्य से कृमि कीट पशु आदि भी अच्छे हैं, सुखी हैं। क्योंकि उनमें मनुष्य से न्यून मात्रा में इच्छा है।

राजन् ! आप जिन्हें सुख समझते हो ये सब दुख हैं उनके आन्तरिक आधार दुखरूप ही हैं। परिणाम में सभी दुखदायी हैं। अपनी वासना से उनमें सुख की प्रतीति मान ली है। उदाहरणार्थ—स्त्री सुख को ही लीजिए।

जीवों का निश्चय है कि स्त्री आलिङ्गन में सुख है, परन्तु मैं आपको समझाती हूँ कि इसमें अनन्त दुख है। मानसिक और शारीरिक दोनों दुख हैं। काम विकार से मन में उद्विग्नता, अस्थिरता आते ही मानसिक दुख हो गया। विषयोपभोगी को शारीरिक दुख तो अनुभूत है ही, वह इतना श्रान्त हो जाता है कि उसे मूर्छा सी आ जाती है। उसे बोलने आदि की भी शक्ति नहीं रहती। हल जोतकर वृषभ या महिष दीर्घश्वास लेकर जिस प्रकार हाँफते हैं वही दशा भोगानन्तर पुरुष की होती है, फिर उसमें सुख कैसे ? जीवों ने केवल उस दुख को ही सुख मान रक्खा है।

हे नाथ ! दूसरी बात यह है कि जो आपको मेरे स्पर्श से सुख मिलता है वही श्वान को शुनी के स्पर्श में है, यदि आप कहें कि स्त्री में सौन्दर्य विशेष सुख है यह भी ठीक नहीं, क्यों कि सौन्दर्य तो केवल एक सुख की भावना है। स्वप्न में जैसे स्त्री का सुख सौन्दर्य भावना से उत्पन्न होता है वैसे ही जाग्रत् में भी सौन्दर्य भावना पर निर्भर है। कूकर शूकर आदि अपनी सौन्दर्य भावना कूकरी शूकरी में कर लेता है फिर आपका स्त्री सुख तो कुत्ते जैसा

ही है। इस विषय में मैं तुम्हें एक दृष्टान्त बताती हूँ—सुनों! श्री वेदव्यासजी कह रहे हैं, हे सूत! इतना कहकर उस राजकन्या ने एक अङ्गड़ाई ली और पुनः कहने लगी।

एक राजकुमार था, जो बड़ा ही सुन्दर और बलशाली था। उसके रूप लावण्य को देखकर कन्दर्प का दर्प दलन होता था। उसने अपना विवाह परमसुन्दरी कोमलाङ्गी, चन्द्रानना, पद्मनयना राजकन्या से किया। वह राजकुमार अपनी स्त्री पर अत्यधिक आसक्त था। जिस लावण्यमयी ललना को राजकुमार प्राणाधिक प्रेम करता था वही राजाङ्गना राजकुमार के एक काले कलूटे नीच दास पर आसक्त थी। विद्युत्कला कह रही है—हे राजपुत्र! मैं आपको सौन्दर्य भावना का तत्व समझा रही हूँ। दुष्ट भृत्य ने जब समझ लिया कि महारानी त्रिभुवन सुन्दरी मुझ पर आसक्त हैं तब वह परम प्रसन्न हुआ। धूर्त किङ्कर राजकुमार को अत्यधिक मदिरा पान कराता, जब राजकुमार संज्ञा शून्य अचेत हो जाता तभी राजाङ्गना वहाँ से पृथक् होकर दुष्ट भृत्य के साथ रमण करती। राजकुमार के समीप रानी के वेष से सुसज्जित एक दासी भेज दी जाती थी। मदिरा में मदोन्मत्त राजकुमार दासी को ही अपनी प्राणप्रिया समझता और उसके समागम से अपने को धन्य समझता। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत हो गया। महारानी का वाह्य व्यवहार देखकर राजकुमार यही समझता था कि राजाङ्गना मुझसे अत्यधिक प्रेम करती है।

एक बार दैववशात् राजकुमार ने मदिरा न्यून मात्रा में पीयी। सदैव की भाँति दासी रानी के बहुमूल्य वस्त्रालङ्कारों से अलङ्कृत रानी के कमरे में पहुँच गई और राजाङ्गना दुष्ट भृत्य के साथ पशु-शाला में रति सुख के लिये, उद्यत राजकुमार ने दासी का आलिङ्गन किया। कुछ सचेतावस्था होने के कारण उसे कुछ सन्देह हुआ उसने तत्क्षरण प्रकाश की आज्ञा दी और विद्युत् प्रकाश में दासी को पहचान कर बोला—यह क्या? तू कैसे? तेरा इतना दुस्साहस। मेरी पत्नी

कहाँ ? राजा को सचेत समझकर दासी भयभीत होकर काँपने लगी, राजा समझ गया । "ओह !" मैं छला गया । उसके नेत्र लाल हो गये । अधर फड़कने लगे । हाथ में नग्न कृपाण लेकर दासी के केश पकड़कर बोला—"सच बता", क्या रहस्य है ? अन्यथा तेरा शीश पृथ्वी पर लोटेगा । दासी काँप रही थी, करबद्ध वोली—राजन् ! मुझे प्राणदान दीजिये, मैं अभी सब हाल सत्य सत्य बता दूँगी । दासी ने सभी वृत्तान्त यथावत् निवेदन कर दिया । राजकुमार बोला "दासी" ।

"हाँ सरकार ।"

"चलो मुझे दिखाओ राजाङ्गना कहाँ है ।"

"पशु शाला में ।"

"उसे यह सुगन्धित दिव्य पुष्पशय्या सुखकर नहीं लगी । राजकुमार अधर काटते हुए दासी के पीछे चल पड़े । दूर से उस दृश्य को देखकर अवाक् रह गये । पशु शाला में गोबर और मिट्टी से मलिन भूमि पर परम सुन्दरी कोमलाङ्गी दिव्य भूषण भूषिता रानी काले कलूटे मलिन चिथड़ों में लिपटे पीले नेत्र वाले रुक्ष देह घृणास्पद आकृति वाले दास से प्रेम पूर्वक आलिङ्गन कर रही है । दोनों रति सुख में अचेत हैं । राजकुमार की कृपाण उठी और रुक गयी । क्रोध के स्थान पर विचार रेखा खिंच गई । कृपाण अपने कोष में पहुँच गई, राजकुमार विचार करने लगा—"ओह !" मुझे धिक्कार है, मैं इससे प्रेम करता था, इस पर प्राण देता था इसकी मुस्कान मेरी हँसी थी और इसकी उदासी मेरा क्रन्दन—"आह !" परन्तु यह नारी सुधा के कलश में विष है । मेरे सुखोपभोग इसे प्रिय नहीं । कहाँ मेरे दिव्य अन्तःपुर की विलास सामग्रियाँ और कहाँ पशुशाला का कीचड़ कामदेव से भी सुन्दर राजवंशीय नव युवक मैं और कहाँ नीच जाति कुरूप अर्धवृद्ध यह भृत्य—हाय ! कितनी विडम्बना है । नारी केवल छलना है ।

संसार कुछ नहीं। सौन्दर्य केवल मन की कल्पना है। स्त्रियों से प्रेम करने वाला आत्मघाती है। ओह! मेरी स्त्री जिस पर मैंने तन, मन, धन सर्वस्व अर्पण कर दिया, वह मेरी न बनी, उसकी यह दशा। मुझे मदिरा में मस्त करके मेरे साथ यह व्यवहार! सौन्दर्य का सार मैं आज समझ गया। सौन्दर्य कोई वस्तु नहीं, जिसका मन जिस वस्तु में सौन्दर्य की भावना कर लेता है वही सुन्दर है। अन्यथा यह रानी मुझे त्याग कर इस कुरूप को न भजती। विद्युत्कला कह रही है। हे राजन्! इस प्रकार विचार करते करते वह राजकुमार उसी क्षण संसार से विरक्त हो कर अरण्य को चला गया।

विद्युत्कला कुछ क्षण रुक कर बोली——हे राजन्! अतः अब आप समझ गये कि यह सुन्दरता मन की मानी हुई केवल एक कल्पना है। कुरूप और सुन्दर दोनों ही प्रकार की स्त्रियों में रति सुख समान है। स्त्री में जो सुख एवं सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह इस का वाह्य आकार है। सङ्कल्प रूप से चित्त में उसका प्रतिबिम्ब खिच जाता है और वह सुन्दरता चिन्तन कराती है। क्योंकि मन में बिना अनुरक्ति चिन्तन नहीं हो सकता। इस चिन्तन से विलासेच्छा उत्पन्न होती है। और मानव काम पीड़ित हो उठता है। तभी वह रति सुख अनुभव करता है। मन की क्षुब्धता ही रति सुख देती है। क्षुब्धता उत्पन्न करने के लिये मन में स्त्री सौन्दर्य का पुनः चिन्तन आवश्यक है। यही कारण है कि अल्पायु बालक को तथा एक चित्तता का अभ्यास करने वाले योगियों को रति सुख नहीं होता।

अतः यह सिद्ध हुआ कि स्त्री सुन्दर हो या कुरूप जिसे जिससे सुख मिलता है उसके चित्त पर उसकी सुन्दरता की भावना अवश्य अङ्कित हो जाती है। जो स्त्रियाँ अत्यन्त कुरूप एवं घृणित होती हैं। उनकी सन्तान से यह प्रमाणित होता है कि इन स्त्रियों को भी

किसी ने परम सुन्दरी माना है और इनका चिन्तन किया है, और स्त्रियों ने भी अपने चित्त पर सुन्दरता का चिन्तन किया है।

इस प्रकार कुरूप में भी सुन्दरता की भावना करली जाती है। कामी, इन्द्रिय लोलुप मनुष्यों को सभी कुछ सम्भव है ही। हे प्राण नाथ! वास्तव में यह सुन्दरता कुछ है नहीं। यदि मधुर रस में मधुरता की भाँति यह सुन्दरता निसर्गत: होती तो सभी के अनुभव में आती।

मनुष्य इस सुन्दरता को विभिन्न भावनाओं से विभिन्न विभिन्न रूप में अनुभव करते हैं। कोई गौर वर्ण को उत्तम मानता है, कोई कृष्णवर्ण को, किसी को स्थूलता अच्छी लगती है तो किसी को कृशता रुचिकर है। कोई बड़ी नाक को सुन्दर मानता है कोई छोटी नाक को। किसी को गोल मुखाकृति सुन्दर लगती है कोई लम्बे मुख को सुन्दर कहता है। अनेक जातियाँ भी होती हैं, और विभिन्न प्रकार के उनके आकार होते हैं वह अपनी ही जाति की स्त्री पुरुषों को सुन्दर मानते हैं। अत: यह निश्चय है कि सुन्दरता कल्पित है।

विद्युत्कला के सारगर्भित उपदेश से विषमदृष्टि के नेत्र खुल गये, वह बोला—प्रिये! विषयों की नश्वरता मैं समझ गया। अब इस विषय का और स्पष्टीकरण कीजिये।

विद्युत्कला बोली—नाथ! सर्व प्रथम इस शरीर की नश्वरता देखिये। जिस शरीर को सर्वश्रेष्ठ सुख साधन माना जाता है वह क्या है? स्त्री के शरीर से पुरुष को और पुरुष के शरीर से स्त्री को सुख होता है। जिस शरीर को देखकर महात्मा भी मोहित होते हैं उस शरीर को विचार करके देखिये तो उसका स्वरूप समझ में आयेगा। यह शरीर रक्तमाँस से पूर्ण, नसों से बन्धा हुआ त्वचा-वेष्टित एक अस्थिपञ्जर है। यह कफ़ पित्तादि सें व्याप्त मलमूत्र का पिटारा है। यह आश्चर्य की बात है कि शुक्रशोणित से बने मूत्र द्वार से बाहर निकले हुये अमङ्गल शरीर को लोग प्रिय मानते

हैं। जो घृणिततम देह से प्रेम करते हैं उनमें और विष्टा के कीड़ों में कोई अन्तर नहीं। यदि इस शरीर पर सुन्दर त्वचा न हो तो देखते ही वमन होने लगे। यदि भगवान् इस शरीर को विपरीत करदे अर्थात् भीतर की सामग्री बाहर कर दी जावे तो कुत्तों काकों की रक्षा करते करते जीवन दुर्भर हो जाय।

यही दशा अन्य सुखकर पदार्थों की भी है, सुन्दर स्वादिष्ट मधुर षटरस व्यञ्जनों का सुख कितने काल तक है। जब तक निगलते नहीं तभी तक जिह्वा में स्वाद रहता है। कितना भी सुन्दर भोजन किया जावे परिणाम विष्टा ही होता है। दूसरी बात यह भी है कि हमें षट्रस सुखदायी हैं वही तृप्त होने पर दुःखद प्रतीत होते हैं। फिर तो उन्हें देखने की भी रुचि नहीं होती। फिर अब तो आप ही बताइये प्रिय क्या है और अप्रिय क्या है ? यदि विषय ही प्रिय होते, तो विषय सामग्री बहुमात्रा में एकत्रित करने से सुख होता। परन्तु यह तो किसी को अनुभव नहीं। यदि इन्द्रियों के संयोग से सुख देते हैं—यह भी नहीं, क्यों कि मन के अन्यत्र रहने पर इन्द्रिययुक्त विषय भी सुखद नहीं।

इन्द्रिय विषय संयोग होने पर भी उसके साथ मन की एकाग्रता होनी अनिवार्य है। मन एकाग्र जब होता है तब उस पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है। उसी अन्तर्मुखी वृत्ति पर प्रतिफलित आत्मानन्द ही आनन्द है और परमप्रिय है। अतः हे राजन् ! इस संसार के सभी विषय असार हैं, दुःखद हैं। और भी समझिये—रसना और शिश्न के साथ विषय पदार्थों का संयोग होता है परन्तु सुख उत्पन्न होता है हृदय में। स्त्री स्पर्श से हाथ में नहीं हृदय में मादकता आती है। अतः सिद्ध हुआ आनन्द का क्षेत्र हृदयस्थ आत्मा है और जब वह किसी भी कारणवश अपने स्वरूप की झलक पा लेती है, तभी आनन्द अनुभूति होती है। जो व्यक्ति साधनों द्वारा अपने सच्चे स्वरूप को देख लेते हैं वही सुखी हैं। राजन् ! अब तो आप प्रिय और अप्रिय को समझ गये होंगे।

धन वैभव राज्य को आप सुखद समझते हैं, उस पर भी विचार कीजिये। धन की स्वतन्त्र सत्ता कोई नहीं, केवल धन से विषय साधन जुट जाते हैं इसी से आप उसे प्रिय समझते हैं। पर विचार कीजिये—पुत्रशोक से व्याकुल होने पर धन दुःख दूर नहीं करता। इस धन के उपार्जन, रक्षण, विनाश तीनों ही अवस्थाओं में दुःख है। डकैती पड़ने पर भी धन अप्रिय हो जाता है। इस प्रकार धन प्रिय कैसे? जब धन के कारण अनाचार दुराचारादि पापों में रत होते हैं और पश्चात् बोध होने पर धन अप्रिय लगता है। इससे सिद्ध है—कि संसार की सभी वस्तुयें अप्रिय हैं केवल अपनी आत्मा ही प्रिय है।

राजकुमार बोला—प्रिये! क्या मान प्रतिष्ठा भी अप्रिय है? इससे तो कोई दुःख होता नहीं।

हे प्राणनाथ! यह तो परम दुःखद है। प्रतिष्ठित व्यक्ति का कहीं किञ्चित् भी अनादर हुआ तो वह महान् दुःखी हो जाता है। उसे अपनी मान प्रतिष्ठा की चिन्ता रहती है और चिन्ता की ज्वाला तो सब दुःखों में भयङ्कर है। प्रतिष्ठा को तो शूकरी विष्ठा शास्त्रकारों ने कहा है। जल के बिना मनुष्य दो चार दिन जीवित रह सकता है, अन्न के बिना मनुष्य के २०-३० दिन प्राण बच सकते हैं, परन्तु प्रतिष्ठा को चाहने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठा में एक क्षण की बाधा पड़ने पर मर जाता है। हे राजन्! प्राणघातक प्रतिष्ठा कैसे प्रिय हो सकती है।

विद्युत्कला की बातें सुनकर राजपुत्र परम हर्षित हुआ। उसने प्रिय अप्रिय का तत्त्व समझ लिया।

हे सूत! अतः सज्जनों का समागम ही सर्व कल्याण का मूल है। उस विद्युत्कला की सङ्गति से विषम दृष्टि को ज्ञान प्राप्त हुआ। अतः सत्सङ्ग ही मोक्ष का मूल कारण है।

श्री व्यास जी की पीयूषवर्षिणी वाणी को सुन कर सूत जी ग्रानन्द विह्वल हो उठे। ग्रौर बोले—प्रभो ! इस शान्तिदायक तत्व को पुनः समझाइए।

षष्ठोऽध्यायः

रहस्यमयी नारी

पुराददौ मे जनको मदर्थम्,
सखीं सतीं सौम्यस्वभाव शीलाम् ।
परन्तु साऽन्यामसतीं स्वभाव—
दुष्टांसखीं प्राप्य विदूषिताऽभूत् ॥१॥

श्री व्यास जी बोले—हे सूत ! सत्सङ्ग के महत्व को तो समझ ही गया है न ?

हाँ महाराज ! आपके भाषण से मुझे निश्चय हो गया है कि जो जैसी सङ्गति करता है वह वैसा फल पाता है । विद्युत्कला की सङ्गति से राजकुमार को परम लाभ हुआ । कृपया आगे की पूरी कथा सुनाइये । विद्युत्कला की बातों से विषमदृष्टि ने क्या क्या किया ?

व्यास जी बोले—"सूत सुन ! तुझे में वह परम पावन कथा सुनाता हूँ ।"

विद्युत्कला के समझाने पर राजपुत्र विषमदृष्टि का हृदय वैराग्य भावनाओं से ओत प्रोत हो गया । उसे विषयों की प्रियता असत्य प्रतीत होने लगी । वह विषयों से उदासीन हो खिन्न रहने लगा । अनन्त काल से विषय वासनाओं के संस्कार उसके हृदय में थे । अतः अब उनका त्याग भी कठिन था परन्तु ज्ञान होने के कारण उनकी नीरसता भी अनुभव होती थी । कभी उसकी मनो-

व
५५५

वृत्ति संस्कारवश विषय सेवन में प्रवृत्त होती तो कभी विषयों में दोष बुद्धि होने से पराङ्मुख हो जाती। आवेशवश जब कभी वह विषयों को अपनाता तभी अपनी प्रियतमा के बताये दोष उसके मस्तिष्क में गूंज जाते और वह उनसे विरक्त हो जाता। इस प्रकार उसका जीवन औदास्यपूर्ण एवं दुखमय चलता था।

अब विषमदृष्टि को खाना पीना, वस्त्राभूषण, सुन्दरी स्त्रियाँ विभिन्न बाहन, प्राणप्रिय मित्र आदि कोई भी सुखप्रद न थे। वह खिन्न होकर एकान्त में उदास बैठा रहता। मानो उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई हो। वह वासना की प्रबलता के कारण विषय त्याग भी नहीं सकता और दोषज्ञान के कारण भोग भी नहीं सकता था।

एक दिन विद्युत्कला ने एकान्त में राजपुत्र से पूछा—प्राणनाथ! यह आपकी क्या दशा हो गई, आप सदैव दुखी रहते हैं। आप का प्रफुल्ल मुख कमल अब सदैव मुरझाया क्यों रहता है? आप हमारे निकट आकर प्रफुल्लित हो उठते थे, अब आप हमारे समीप भी नहीं आते; आप को कोई रोग तो नहीं हो गया? आपकी समस्त क्रियाओं में परिवर्तन क्यों हो गया? आपकी इस दशा को देख कर मुझे बड़ी चिन्ता है।

विद्युत्कला की बातें सुन कर राजपुत्र बोला—'प्रिये! तुम्हारे उपदेश का ही यह परिणाम है। अब मुझे संसार की कोई भी वस्तु प्रिय नहीं प्रतीत होती। यह राजभोग सामग्रियां शूली पर चढ़े व्यक्ति की भाँति दुखदाई हैं। मैं जो विषय सुख भोगता हूँ वह बलात् पकड़े हुए व्यक्ति की भाँति अनिच्छा पूर्वक भोगता हूँ। मैं परम दुखी हूँ। अब मुझे सच्चा पथ दिखाओ जिस पर चलकर मैं सुखी जाऊँ।'

राजपुत्र की बातें श्रवण कर विद्युत्कला ने विचार किया— राजपुत्र पर मेरे भाषण का पूर्ण प्रभाव पड़ गया है। उन्हें वास्तव

में वैराग्य हो गया है तब तो इन में मोक्ष का भी बीज है। जिन व्यक्तियों में मोक्ष का बीज नहीं होता वह ऐसे भाषणों से किञ्चित् भी विचलित नहीं होते।

ईश्वराराधन से जब ब्रह्मदेव कृपा करते हैं तब मनुष्य की वैराग्य-पूर्ण ऐसी ही दशा होती है। मेरे प्रियतम की स्थिति आत्मबोध कराने योग्य हो गई, अब यह उसके अधिकारी हैं।

इस प्रकार विचार करके वह विदुषी राजपुत्र को उत्तम रीति से समझाने लगी। राजन् मैं अपनी रहस्यमयी कथा सुनाती हूँ। उससे आपको पूर्ण बोध हो जावेगा।

पूर्व काल में मेरे पिता (ब्रह्मदेव) ने क्रीड़ा हेतु मुझे (चेतन स्वरूप को) सखी (बुद्धि) दी। अर्थात् ब्रह्मचैतन्य ने जीव चैतन्य को बुद्धि दी वह सखी स्वभाव से शुद्ध थी परन्तु कालान्तर में वह मेरी सखी असत्स्वभाव वाली सखी (अविद्या) की सङ्गति में पढ़ गई। वह स्त्री ऐसी सामर्थ्यवती थी कि अत्यन्त नवीन आश्चर्य पूर्ण सृष्टि उत्पन्न करके दिखा सकती थी। उसने मेरी सखी से मित्रता करली। उस स्त्री का सम्पूर्ण आचरण असत्यता पूर्ण रहा करता था। मेरी सखी से उसका बहुत स्नेह था और मेरी सखी मुझे प्राणों से भी प्यारी थी। अतएव मैं सहज ही उसके जाल ग्रस्त होकर उसकी इच्छानुसार कार्य करने लगी। (अर्थात् जीवचैतन्य बुद्धि के सङ्ग से अविद्या के वशीभूत हो गया। मैं अपनी सखी को त्याग कर क्षण भर भी कहीं नहीं रहती थी। (क्योंकि बुद्धि पर शुद्ध चैतन्य का पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है, फिर वह बुद्धि को त्याग कर कैसे रह सकता है) उसने अपने निर्मल स्वभाव से पूर्ण-तया मुझे अपने अधीन कर लिया था। निरन्तर उसके साथ रहने के कारण मेरा स्वभाव भी उसके स्वभाव से मिल गया था। अनन्तर उस विचित्र और दुष्ट स्वभाव वाली नाटकीय स्त्री ने मिथ्या प्रलोभन देकर मेरी सखी को अपने पुत्र के अधीन कर दिया,

(अर्थात् बुद्धि अविद्यापुत्र मोह के अधीन हो गई) उसका पुत्र अत्यन्त मूर्ख था। मद्यपान से उसके नेत्र रक्त रहते थे। मेरे सम्मुख ही मेरी सखी से बलात्कार करता था। इस प्रकार मेरी सखी नित्य ही उसके पुत्र से त्रस्त रहती थी। कुछ समय के अनन्तर उसके पुत्र द्वारा मेरी सखी के एक सन्तान उत्पन्न हुई। वह बालक अति चञ्चल था, (अर्थात् जीव की बुद्धि मोहवश हो गई तब सङ्कल्प विकल्पात्मक मन उत्पन्न हुआ, शुद्ध बुद्धि में सङ्कल्प विकल्प की खींचातान नहीं होती, वह मोह की सङ्गति से सङ्कल्प विकल्प होता है) नवजात पुत्र का आकार उसके पिता के सदृश था (अर्थात् मोह और मन का एक ही स्वरूप है) वह तरुण होते ही अत्यन्त चपल हो गया। (अर्थात् समस्त व्यवहार करने वाला मन ही है) पिता (मोह) से मूढ़ता और आजी (अविद्या) से अनेक बातों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य प्राप्त हुई। क्योंकि अविद्या ही जगत् उत्पन्न करती है यह जगत् वैसा ही है जैसा मन का मनोराज्य और स्वप्न। फिर इस अस्थिर बालक को उसके मूढ़ पिता और शून्या आजी ने सब कुछ पढ़ा लिखा कर प्रवीण कर दिया। (असत्स्वभाव वाली स्त्री अविद्या की कोई सत्ता नहीं है; अतः इसे शून्या भी कही गयी)। फलतः उसने अत्यन्त अप्रतिबद्ध और वेगवान् गति-प्राप्त की। अर्थात् मनकी गति वेगवती और चञ्चल होती है।

विद्युत्कला कह रही है कि हे प्राणनाथ ! तात्पर्य यह है कि यद्यपि मेरी सखी जन्म से शुद्ध स्वभाव वाली और सती थी तथापि असती सखी की सङ्गति से अत्यन्त मलिन अवस्था में पहुँच गई। (अर्थात् शुद्ध बुद्धि अविद्या के वश हो गई) क्रमशः मेरी सखी का प्रेम अपने पति और पुत्र- पर विशेष बढ़ने लगा और मुझ से छूटने लगा (अर्थात् जब बुद्धि जीव चैतन्य का विस्मरण कर देती है तब वह मन और मोह में ही अनुरक्त रहती है) मैं तो स्वभाव से ही

सरल थी। अतः मैंने अपनी सखी की सङ्गति नहीं छोड़ी। मैं सदैव उसके साथ रहती थी। उसकी अभिरुचि देखकर ही व्यवहार करती थी। एक दिन सखी का मूढ़ नामक पति मुझ पर बलात्कार करने को उतारू हो गया। मैं स्वभाव से शुद्ध थी, अतः उसके वश में नहीं आयी। परन्तु संसार में मेरी मिथ्या अपकीर्ति फैल गई कि—मूढ़ मेरा यथेच्छ उपभोग करता है" (अर्थात् मोहाधीन जीव की निन्दा होती है)।

कुछ समय बाद मेरी सखी अपने पति के साथ सदैव रहने लगी, उसने अपने पुत्र को मेरे साथ छोड़ दिया। वह अस्थिर नामक पुत्र मेरे पास रहने लगा। मेरे द्वारा पालन पोषण होने से वह अति बलवान् हो गया। युवावस्था में उसने अपनी आजी की अनुमति से एक स्त्री से विवाह कर लिया (अर्थात् कल्पना ही मन की स्त्री है), उस स्त्री का नाम चपला था। वह अपने पति की रुचि के अनुसार प्रतिक्षण भिन्न भिन्न मनोहर रूप धारण करती थी। अस्थिर भी स्वयं एक क्षण में कोटि योजन दूर जाकर लौट आता था। अस्थिर को एक क्षण के लिये विश्राम न था। चपला अपने पति अस्थिर की रुचि के अनुकूल रूप बनाकर उसके साथ रहती थी। अस्थिर यथेच्छ चपला के साथ विहार करता था। इस प्रकार रहते हुये अस्थिर द्वारा चपला के पाँच कन्यायें हुईं (अर्थात् यह कन्यायें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो मन से उद्भूत हैं) यह कन्यायें माता पिता की बहुत सेवा करती थीं (इन्द्रियों के योग से मन की पुष्टि होती है) मेरी सखी ने इन पाँचों को मेरे अधीन कर दिया। सखी पर प्रेम होने के कारण मैंने इनका उत्तम पालन किया। इन पाँचों ने अपने लिये भिन्न भिन्न मन्दिर निर्माण किये। (अर्थात् पाँचों इन्द्रियों ने शरीर के पाँचों अवयवों पर अपना स्थान नियत किया। फिर इन पुत्रियों ने अपनी माता की सहायता से अपने पिता को वश में कर लिया (अर्थात् मन इन्द्रियों के अधीन हो गया। वे कन्यायें जहाँ

जाती थीं, प्रतिक्षण पिता को साथ रखती थीं। एक दिन अस्थिर अपनी ज्येष्ठ पुत्री के पास गया, तब वहाँ उसने मधुर स्वर, उत्तम राग, वेदमन्त्र ऋचायें सुनीं। उसने अपनी पुत्री के सहयोग से अन्य शास्त्र इतिहास गहनों की झङ्कार, भौरों की गुञ्जार, कोकिल के पञ्चम स्वर में गान आदि मनोहर ध्वनियाँ सुनी। वह अपनी पुत्री पर प्रसन्न होकर उसके कथनानुसार चलने लगा। पिता को वश में पाकर उसी कन्या ने कुछ दूसरी ही क्रीड़ा की। अपने अस्थिर पिता को उसने अरुचिकर कर्णकटु भयङ्कर शब्द सुनाये। यह सब देखकर चकित हो गया। फिर वह दूसरी पुत्री त्वक् नामवाली के पास गया, वहाँ कोमल आसन मिला उसे कोमल और कठोर, शीतल एवं उष्ण इत्यादि विभिन्न प्रकार के वस्त्र और शय्या मिली, उसमें से कुछ सुखप्रद और कुछ दुखप्रद थे। तदनन्तर वह नेत्र नाम वाली तृतीय पुत्री के पास गया। वहाँ उसने अनेक प्रकार के भूरे, धूमिल, कृष्ण, अरुण, पीत, श्वेत आदि विचित्र रूप देखे तथा स्थूल, कृश व ह्रस्व, दीर्घ, सुन्दर, भयानक, वीभत्स तेजोमय आकार देखे। वह यह दृश्य देख ही रहा था कि चौथी पुत्री रसना उसे अपने स्थान पर ले गई। वहाँ उसने अमृत सदृश मधुर, स्वादिष्ट, कटु, तीक्ष्ण तथा लेह्य चोष्य, पेय, भक्ष्य, अनेक प्रकार के स्वादों को ग्रहण किया। फिर वह अपनी पाँचवीं पुत्री (घ्राण) के पास गया वहाँ उसने अनेक प्रकार के गन्धों का अनुभव किया। कोई सुगन्धित पदार्थ थे कोई दुर्गन्धित थे।

इस प्रकार वह एक गृह से दूसरे गृह जाने लगा। कभी हितकारी विषयों में रत रहता था। और कभी अहितकारी विषयों में अनुरक्त रहकर दुखी होता था। वह इस नित्य क्रम से जीवन व्यतीत करने लगा। सभी पुत्रियाँ पिता पर पूर्ण प्रेम रखती थीं। अतः वे किसी भी सुख को पिता के बिना नहीं भोगती थीं, परन्तु पुत्रियों के नाना प्रकार के विषयों से अस्थिर कभी तृप्त नहीं होता था। वह अनेक विषयों को चुराकर अपने साथ घर में ले आता

और अपनी स्त्री चपला (कल्पना) के साथ एकान्त में सेवन करता था। वहाँ कोई पुत्रियाँ नहीं रहती थीं (अर्थात् मन इन्द्रियों के विषयों को संस्कार द्वारा चुराकर कल्पित मनोराज्य के रूप में भोग करता है)।

इस प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर प्रसङ्ग वश एक दिन चपला की बहिन वहाँ पहुँच गई। उसका नाम महाशना (आशा भिक्षुकी) था। वह बहुत खाने वाली थी। वह अस्थिर पर मोहित हो गई। और अस्थिर से विवाह कर लिया। शीघ्र ही उस पर अस्थिर का विशेष प्रेम हो गया। उस पर अतिशय आसक्त होने के कारण उसके सुख के लिए अस्थिर नित्य नये और विभिन्न विषयों के सम्पादन में लगा रहता था। परन्तु (भुक्कड़) बहुभक्षी स्त्री उन सबको एक क्षण में चाट जाती थी। फिर भूखी हो पति को पुनः कार्य में लगा देती थी। अस्थिर भी विषय वस्तुओं को कहीं न कहीं से लाने को तत्पर रहता था। वह और उनकी पाँचों पुत्रियाँ जो कुछ लाती थीं उसे महाशना स्वाहा कर दूसरे क्षण भूख से व्याकुल हो जाती थी और पति तथा पुत्रियों को तत्क्षण ही वस्तु संग्रह को पुनः भेजती थी।

समय पर उस महाशना के दो पुत्र उत्पन्न हुये, वे बड़े ही भयङ्कर थे। एक का नाम ज्वालामुखी (क्रोध) और दूसरे का नाम निन्द्यवृत्त (काम) था। यह दोनों पुत्र अपनी माता को अत्यन्त प्रिय थे। फलतः कभी कभी प्रेम की प्रबलता में महाशना से आलिङ्गन करने लगते थे। इस ज्वालामुखी (क्रोध) की ज्वाला से अस्थिर दग्ध होकर मूर्छित हो जाता था। यदि कभी निन्द्यवृत्त से काम पड़ गया तब तो अस्थिर की सारे संसार में विडम्बना होती थी। इस प्रकार उन दोनों पुत्रों के कारण अस्थिर दुखी रहने लगा। अस्थिर के दुख से मेरी सखी को भी दुख होता था अर्थात् मनोबुद्धि की एकता होने के कारण मन के साथ बुद्धि भी दुखी हो गई। मेरी

सखी (बुद्धि) के पौत्रों ने उसे महान् दुख दिया। निन्द्यवृत्त (काम) ने मेरी सखी की सर्वत्र निन्दा करा दी। दूसरे ने आलिङ्गन करके मेरी सखी को भी मृतक सा बना दिया। नित्य सहवास में रहने के कारण मैं भी वर्षों तक दुख भोगती रही। महाशना के विवाह करने पर अस्थिर तो नितान्त परतन्त्र हो गया।

कुछ समय पश्चात् अस्थिर को एक नगर मिला, उसके दश द्वार थे। वहाँ वह अपनी स्त्रियों, पुत्र, पुत्रियों के साथ रहने लगा। वह सुख पाने की चेष्टा करता, परन्तु उसे दुःख ही रात दिन प्राप्त होता था। एक पुत्र शरीर को दग्ध करता, दूसरा अपमानित करता। पुत्रियाँ भी पीड़ित करती रहती थीं। उसकी स्त्री महाशना उसें संताती थी। मेरी सखी अपने पुत्र अस्थिर के दुःख से दुखी रहती थी।

शून्याख्य सासु और मूढ़ नामक ससुर ने महाशना और उसके पुत्र (काम क्रोध) का उत्तम रीति से पालन पोषण किया। कल्पना और महाशना दोनों स्त्रियों ने अस्थिर को पूर्णरूपेण वश में कर लिया था। मैं सखी के साथ रहती थी और सखी के दुःख से हतप्राय हो गई थी। मैं सदैव अपनी सखी को शक्ति प्रदान करती रहती थी। मैं सखी के प्रेम के कारण सबके साथ रहती थी। उन सबका मुझ पर भी प्रभाव पड़ा। मैं शून्याख्य के साथ शून्य, मूढ़ के साथ मूढ़, अस्थिर के योग से अस्थिर, चपला के सहयोग से चञ्चल, ज्वालामुखी के कारण ज्वालारूप और निन्द्यवृत्त के कारण निन्द्यवृत्त बन गई। यदि मैं अपनी सखी का साथ छोड़ती तो वह क्षण भर में नष्ट हो जाती। वैसे लोग मुझे व्यभिचारिणी कहने लगे। केवल मेरे सम्बन्धियों को मेरे निर्मल होने का ज्ञान था। मेरा पिता अत्यन्त शुद्ध, निर्दोष, आकाश से भी विस्तीर्ण और परमाणु से भी सूक्ष्म था, वह सर्वज्ञ होते हुये भी अज्ञेय था। वह कर्ता होकर भी अकर्ता था। वह आधार हो कर भी निराधार था। वह सभी का

आश्रयदाता था परन्तु स्वयं निराश्रय था। वह अनेक रूप धारण करता परन्तु उसका कोई रूप न था। सब से सङ्गति करने पर भी वह असङ्ग था। सर्वत्र होने पर भी किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता था। वह पूर्ण आनन्दमय होने पर भी किसी को आनन्दमय नहीं दिखाई देता था। और उसके माता पिता कोई न थे। मेरी भाँति उसकी अनेक पुत्रियाँ थीं, समुद्र की अगणित लहरों की भाँति मेरी अनेक बहिनें थीं। उन सबका स्वभाव एवं आचरण मेरे ही सदृश था। मैं अतीव मान्त्रिक हूँ, अतएव इतनी बड़ी सखी (बुद्धि) परिवार के साथ रहकर भी सब से पृथक रही। मैं अपने पिता की भाँति स्वरूपतः शुद्ध हूँ।

अस्थिर अपने नगर में दिन भर श्रान्त रहकर मेरे पिता की गोद में शान्ति पूर्वक नींद लेता था। उसके शयन करने पर उसकी सभी पुत्र, पुत्रियाँ सो जाती थीं। उस समय अस्थिर का प्रचार प्राण नामक मित्र उस नगर की रक्षा करता था। उसका व्यवहार पूर्वाङ्ग के दो द्वारों से होता था। जब अस्थिर की माता को भी नींद आ-जाती तब उसकी वृद्ध सासु आत्मीय भावना से सबको अपने अञ्चल से आच्छादित कर उसकी और उसके पुत्रों की रक्षा करती रहती। उन सबके निद्रामग्न होने पर मैं अपने पिता के समीप जाकर आनन्द से रहती (अर्थात् निद्रा में जीव की स्थिति शुद्ध स्वरूप में होती है)।

अस्थिर का प्रचार नामक मित्र सभी का नित्य ही पोषण करता था। एकाकी होने पर भी वह दश पाँच बनाकर सम्पूर्ण नगर में व्याप्त रहता था। एक नगर के जीर्ण हो जाने पर प्रचार उन सबको दूसरे नगर को लेजाता था। अर्थात् वासनाओं के साथ रहने पर प्राण मन को भिन्न भिन्न योनियों में पहुँचा देता है। इस प्रकार प्रचार की भिन्नता से अस्थिर भीअनन्त अद्भुत देशों का राजा हुआ।

अस्थिर का जन्म सती के पेट से हुआ और उसे महाबली प्रचार का आश्रय मिला। मेरे द्वारा उसका पालन पोषण हुआ। यह सब होने पर भी उसके भाग्य में दुःख ही था क्यों कि चपला और महाशना सदृश उसकी स्त्रियाँ थीं और ज्वालामुख (क्रोध) निन्द्यवृत्त (काम) सदृश पुत्र थे। और फिर अन्य पाँचों पुत्रियों की घर्षणा पृथक् थी। इससे उसे महाक्लेश प्राप्त होना स्वाभाविक है। उसे सुख का लेश न मिला। कभी उसकी पाँच पुत्रियाँ उसे यत्र तत्र भ्रमाती थीं। कभी उसकी स्त्री चपला उसे अपनी ओर घसीटती थी और खिन्न कर देती थी। महाशना तो अपने उदरपूर्ति के लिये अस्थिर को क्षणभर भी शान्ति न देती थी। ज्वालामुखी और निन्द्यवृत्त उसे निरन्तर पीड़ित करते रहते थे।

इस प्रकार अस्थिर अपनी स्त्रियों एवं पुत्र पुत्रियों के साथ अनेक नगरों में भ्रमण करने लगा। कभी भयङ्कर काननों में, कभी हिंसक पशुओं, कभी उष्ण, शीत, देश में और कभी घोर अन्धकार में नाना देशों में भटकता रहा। मेरी स्वभाव से सती सखी इस दुष्ट की सङ्गति से दुखी हो गई।

प्राणनाथ ! उसकी सङ्गति से मैं भी मोहित होकर इतने बड़े परिवार की रक्षा करती रही। परन्तु कुसङ्गति से कभी किसी को सुख नहीं मिलता। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होने पर एक बार मेरी सखी एकान्त में मेरे समीप आई। (अर्थात् शुद्ध बुद्धि जीव-चैतन्य को समझ गई) और मुझसे इन दुखों की मुक्ति का उपाय पूछा। (अर्थात् आत्म साक्षात्कार द्वारा शुद्ध चैतन्य में लीन होगई) मैंने स्नेह वश उसे दुखों से छूटने का सारा रहस्य (वैराग्य) समझा दिया। उसने एक बुद्धिमान् (विवेक) पति से विवाह कर लिया तब उसने अस्थिर को जीता (अर्थात् मन को विवेक द्वारा अधीन किया) सखी के नबीन पति ने पुत्रों का बध किया और पुत्रियों को बाँध लिया। (अर्थात् काम क्रोधादि को मार कर पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को

वश में कर लिया और अन्त में मेरी सहायता से मेरे पिता के गृह में प्रवेश कर पिता को गले लगा लिया। फिर वह मेरी निर्मल सहज स्वभाव वाली सखी स्वाभाविक आनन्द में रहने लगी।

प्राणनाथ! मैंने आपसे जिस सुख के स्थान का वर्णन किया है, उसका स्वयं अनुभव भी किया है। आप भी उसी आनन्दमय तत्त्व का अनुभव कीजिये। इतना कहकर विद्युत्कला मौन हो गई।

श्री वेदव्यास जी सूत जी से कह रहे हैं, हे सूत! अब तो तुम्हारे समझ में सत्सङ्गति का पूरा महत्त्व आ ही गया होगा! इस प्रसङ्ग में यह समझाया गया है कि चैतन्य बुद्धि के साथ रहता है और बुद्धि अविद्या का सङ्ग करती है। अविद्या उसे मोह के जाल में डाल कर मन इन्द्रियों और विषयों में आसक्त कर देती है। वहाँ दुखी रहकर बुद्धि उससे मुक्ति चाहती है। तदन्तर विवेक प्राप्त होने पर मन को जीत कर ब्रह्म को प्राप्त कर परम शान्ति पा लेता है। सूत यह सुनकर परम शान्ति का अनुभव करके आनन्दित हो उठे।
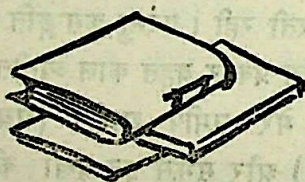
सप्तमोऽध्यायः

आस्तिकता

जहाति श्रद्धा रहितं नरं यशः ।
सुखञ्च लक्ष्मीश्च विवेकिनी मतिः ।।
लतां सुश्रद्धां परमार्थ मञ्जुल—
फल-प्रदां प्राप्य सुखी नरः स्यात् ।।७।।

श्री वेदव्यास जी बोले—हे सूत ! अपनी प्रिया की अद्भुत वार्तालाप सुनकर विषमदृष्टि को परम आश्चर्य हुआ, वह बोला—हे प्रिये ! तेरी यह सभी बातें असत्य एवं निराधार हैं। तेरी बातें मुझे असम्भव प्रतीत होती हैं। तेरा जन्म विद्याधरी से हुआ। तुम्हारा पालन ऋषी द्वारा हुआ। अभी तू पूरी युवती भी नहीं हो पायी, पर तेरी बातें वृद्धा जैसी हैं। तू भूतग्रस्त मानव की भाँति निरर्थक बातें बक रही है। तेरा पिता कौन है ? वह तुम्हारी सखी कौन है ? तेरी सखी का परिवार कहाँ है ? तू किन किन नगरों में अपनी सखी के साथ रही ? तेरी सभी बातें वन्ध्या पुत्र की भाँति अघटित हैं।

मैंने नाटक में विदूषक की बातें सुनी थीं, वह कहता था। एक वन्ध्या पुत्र ने छाया रथ पर चढ़कर आकाश कुसुम तोड़ने का निश्चय किया, उसके आभूषण शुक्ति में सूर्यकिरणों से प्रतीत होने वाली मिथ्या रजत से बने थे। उसके शस्त्र शशक शृङ्ग निर्मित थे। वह

आकाश वन में युद्ध करने लगा। वहाँ भविष्यकाल के राजा को मारकर मेघ के बने हुये रमणीय शहर में राज्य करने लगा। वह नित्य ही मृगजल में स्वप्निल नारियों के साथ जल विहार किया करता था। इस प्रकार की विदूषक की बातों के सदृश ही तेरी भी बातें असङ्गत हैं।

यह सुनकर विद्युत्कला बोली—आप समझ नहीं पाये, मेरी वाणी कभी असत्य नहीं होती। तपस्वियों के कुल में उत्पन्न होने वाली मेरी बातें यदि असङ्गत और असम्भव हैं, तब तो कोढ़ी में सुन्दरता भी सम्भव है। मैं आपके सम्मुख कभी मिथ्या नहीं बोल सकती। जो जिज्ञासु के सम्मुख मनमानी असत्य बातें बताता है उसे सुखद लोक नहीं मिलता। हे राजपुत्र! जिसे तिमिरदोष हो जाता है उसे अञ्जन की आवश्यकता पड़ती है। केवल शब्द समूह रूप ही अञ्जन से काम नहीं चलता। उसे गूढार्थ पूर्वक शब्द बताये जाते हैं। इसीलिये सुजन लोग जिज्ञासु जनों को गुह्य तत्वपूर्ण शब्द बोलते हैं। आप तो मेरे प्रियतम हैं और मैं आपकी प्रिया हूँ फिर भला आपसे मैं असत्य भाषण कैसे बोल सकती हूँ। पूर्व की बात स्मरण करियें; पहले आप को सभी विषय सुखकर प्रतीत होते थे, पर मेरे कहने से आप ने विचार किया और अब आप को दुखप्रद विषय हो गये। परन्तु अन्य लोगों को विषय अब भी सुखद हैं। इसी अनुभव से आप मेरे सत्यासत्य का निर्णय कर लीजियेगा।

राजन्! अब मैं आपको जो तत्व समझाऊँ उसे आप शुद्ध भाव से श्रद्धा सहित सुनिये। सज्जनों के वाक्यों पर अविश्वास होना परम दोष है। शरण में आये हुये बालक को श्रद्धा नामक माता सब कुतर्कों से सुरक्षित करती है। श्रद्धा विहीन मनुष्य को लक्ष्मी, कीर्ति, सुख, विवेकशालिनी मति सभी छोड़ देती हैं। विश्वास रहित पुरुष सर्व प्रकारेण दीन हीन होता है। विश्वास ही सारे संसार का आधार है। सब का जीवन है। यदि बालक माता पर विश्वास न

करे तो कैसे जीवित रह सकेगा। यदि विश्वास ही न हो तो पुरुष को स्त्री से क्या सुख प्राप्त होगा। विश्वास के आधार पर ही खेत बोना, वृक्ष लगाना, व्यापार करना आदि सभी व्यवहार होते हैं। विश्वास नष्ट होने पर संसार का व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा। हे नाथ! आप कदाचित् कह सकते हैं कि समस्त लोक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाले फल पर अवलम्बित है। केवल विश्वास पर नहीं? परन्तु आप यह भी विचार करें कि प्रत्यक्ष फल मिलने की भावना भी कैसे हो सकती है? क्योंकि फल भविष्य में ही मिलता है, तत्क्षण नहीं। अतः इस मत का आश्रय लेना विश्वास ही का आश्रय लेना है। अतः सिद्ध है कि विश्वास बिना श्वास भी नहीं ली जा सकती। राजन्! अतएव आप दृढ़ विश्वास का सम्पादन कर अतिशय सुख प्राप्त कीजियेगा। इस सम्बन्ध में मैं एक उदाहरण दे रही हूँ।

एक नास्तिक और एक आस्तिक दोनों एक सुन्दर उपवन में भ्रमण कर रहे थे, तब तक वहाँ पर एक सज्जन आये, उनके हाथ में दो सुन्दर मधुर फल थे। उन्होंने एक एक फल दोनों को दे दिया। खाने पर वह परम स्वादिष्ट लगे। दोनों ने पूछा—भैया यह मधुर फल कैसे प्राप्त होते हैं? इनकी उत्पत्ति कहाँ से है? वह सज्जन व्यक्ति बोला—भाइयो! यह आम्र फल है, इनकी गुठली कहीं सुन्दर भूमि में बो दो और खाद पानी देते रहिये, कुछ दिनों में अङ्कुर निकलेगा और आगे बढ़ कर वह वृक्ष बन जावेगा। पुनः उसमें इसी प्रकार के अनेक फल लगेगें। वह फल इसी प्रकार के परम स्वादिष्ट होंगे। दोनों व्यक्तियों ने अपनी अपनी गुठली अच्छी भूमि में बो दी।

आस्तिक बुद्धि वाले को तो विश्वास था कि सत्पुरुषों का कथन कभी वृथा नहीं होता, अतः अवश्य ही इस बीज से अङ्कुर निकलेगा और जो वृक्ष बनकर मधुर फल देगा। वह विश्वास और श्रद्धा से पानी देने लगा। नास्तिक व्यक्ति को विश्वास न था, अतः दो तीन

दिन बाद गुठली निकाल कर देखने लगा कि अङ्कुर उद्भूत हुआ या नहीं। पुनः गाड़ देने पर पुनः खोदकर देखता। इस प्रकार उसने बीज को कई बार उखाड़ा और देखा। कई बार निकलने के कारण उस बीज की उत्पादक शक्ति नष्ट हो गई और उसमें अङ्कुर नहीं निकला।

आस्तिक के बीज से अङ्कुर निकला, वृद्धिङ्गत हुआ और समय पर वृक्ष भी बन गया। मधुर फल भी लगे। उसने स्वयं खाये और दूसरों को भी फल से तृप्त किया। विद्युत्कला कह रही थी—हे नाथ! विश्वास ही न होने के कारण ही नास्तिक को मधुर फलों से वञ्चित रहना पड़ा। लोक में भी बिना विश्वास के कोई कार्य सफल नहीं होता अतः विश्वास रखना परमावश्यक है। विषमदृष्टि बोला—प्रिये! विश्वास होना आवश्यक है यह बात तो मैं भली भाँति समझ गया पर एक मुझे शङ्का हो गई, क्या सभी पर विश्वास रखना चाहिये? जो वाह्य रूप में सरल और आभ्यन्तरिक रूप में महान् वक्र हैं, जिनके कार्य कुटिलतापूर्ण हैं, क्या उन पर भी विश्वास रक्खा जाय? दुष्टों पर विश्वास करने वाले का तो उसी प्रकार शीघ्र नाश हो जाता है जैसे तीक्ष्ण एवं वक्र वंशी (मछली पकड़ने का काँटा) पर विश्वास रखने वाली मछली का नाश हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि विश्वास करने के कारण ही अनेक सज्जन महाविपत्ति में पड़े। अतः अनुभव करके ही विश्वास करना चाहिये, अन्यथा नहीं।

राजपुत्र की बात सुनकर विद्युत्कला बोली—हे प्राणनाथ! आपने जो दुष्ट और सज्जन के विश्वास की बात कही, उसमें भी तो विश्वास की आवश्यकता है। उत्तम और अधम का ज्ञान भी तो विश्वास के ही आधार पर होगा। यदि किन् ही प्रमाण विशेषों से उत्तम अधम की पहचान की जावे तब भी उन प्रमाणों में विश्वास की आवश्यकता है। अपने अन्तः करण के विश्वास का आधार लेकर ही सभी प्रमाण मान्य हो सकते हैं। विश्वास त्याग कर

असङ्गत कुतर्क करने वालों के लोक परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

प्राचीनकाल में हिमाद्रि पर्वत की ओर गोदावरी के तटपर जितेन्द्रिय नामक एक ऋषि रहते थे। वे परम शान्त और सद्बुद्धि सम्पन्न थे। उन्हें इस दृश्य संसार का मर्म भली भाँति विदित था उनके समीप अनेक शिष्य विद्या प्राप्त करते थे। एक दिन सभी शिष्य एकत्रित होकर संसार के स्वरूप का निर्णय करने लगे। सभी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपना अपना सिद्धान्त प्रतिपादन करते थे। उन शिष्यों में शुङ्ग नामक एक शिष्य बड़ा ही बुद्धिमान् था। वह वाद विवाद में परम चतुर एवं पण्डित था। उसने अपनी बुद्धि बल से सभी के सिद्धान्तों का खण्डन कर डाला। उस तर्कवादी ने असम्भव तर्क के प्रभाव से सभी की बुद्धि कुण्ठित कर दी। शास्त्रों पर उसे विश्वास नहीं था। वह कहने लगा—भाइयों! आप लोग कह रहे हैं जो प्रमाण सिद्ध है, वही सत्य है, पर यह कैसे सत्य माना जाय? क्यों कि सिद्ध करने वाले प्रमाण के शुद्ध होने का निश्चय नहीं है। प्रमाण को शुद्ध निश्चय करने के लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है किन्तु उनमें भो शुद्ध निश्चय का प्रश्न उठ खड़ा होगा। उसके अन्य प्रमाणों का प्रश्न होगा। इस प्रकार एक "अनवस्था" दोष आजाता है। तात्पर्य यह है कि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय निश्चित ही नहीं हो सकते। यह जो आभास दिखाई पड़ रहा है, वह शून्य पर स्थित है, और शून्य शून्य ही है, वह प्रमाण का विषय नहीं। अतः यही निर्णय किया जाता है कि यह सब कुछ शून्य है, शून्येतर कुछ नहीं। शुङ्ग के इस भाषण को सुन-कर जो मन्द बुद्धि शिष्य थे, वह उस आभासात्मक तत्वज्ञान को समझकर शून्यवादी हो गये। सब को शून्य मानने के कारण स्वरूपा-नन्द से विमुख हो गये। और विनाश को प्राप्त हो गये। जो विचार शील शिष्य थे, उन्होंने शुङ्ग के मत को नहीं माना, जितेन्द्रिय ऋषि के सम्मुख वह प्रश्न रक्खा गया।। ऋषि ने उसका उत्तम रीति से

उचित समाधान किया। अतः हे राजपुत्र ! असङ्गत शास्त्र विरुद्ध तर्क को त्याग कर शास्त्रों के आधार पर ही विचार कीजिये।

विदुषी विद्युत्कला की तत्वपूर्ण बात सुनकर विषमदृष्टि बोला—प्रिये ! तुम्हारा ज्ञान अगाध है। मुझे तेरी बातों पर विश्वास है। मैंने निश्चय कर लिया, विश्वास ही सब कल्याणों का मूल है। पर यह तो समझाओ कि यह विश्वास कैसे उत्पन्न हो ? कहाँ पर कितना विश्वास करना चाहिये ? शास्त्र अनन्त हैं, अर्थ अनन्त हैं। परस्पर विरुद्ध भी हैं। उनपर आचार्यों के सिद्धान्त भी विभिन्न हैं। विचारने पर शास्त्रों के अर्थ एवं सिद्धान्त अस्थिर प्रतीत होते हैं। फिर किसे माने, किसे न माने ? कोई शून्यवादी है, कोई अशून्यवादी। ऐसी स्थिति में आत्म निर्णय तक कैसे पहुँचा जावे ? तू सभी तत्व जानती है, अतः इन सभी का निर्णय करके उचित तत्व का सार बतलादे। तू सभी रहस्यों को जानती है अतः मुझे परम कल्याण प्रद एवं शान्तिदायक मार्ग बतलादे।
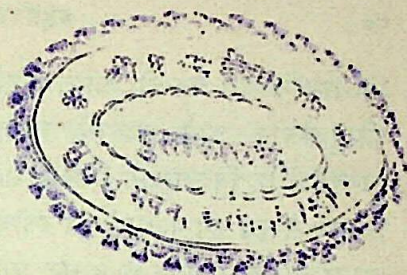
अष्टमोऽध्यायः

ईश्वर सिद्धि

सद्युक्तिभि र्वेद पुराण शास्त्रैः ।
संसार निर्माण विधिञ्च दृष्ट्वा ।
संसिद्धमेवेश्वर कर्तृ कत्वम् ।
परन्तु कर्ता स विलक्षणोऽस्ति ॥८॥

विषम दृष्टि की जिज्ञासापूर्ण बातें सुनकर विद्युत्कला बोली—प्रियतम ! आपने जो कल्याणप्रद मार्ग पूछा है, वह मैं बता रही हूँ स्थिर चित्त होकर श्रवण कीजिये । विश्वास दृढ़ होने के पश्चात् मन को स्थिर करना चाहिये । यह मन बड़ा ही चञ्चल है । इसी मन के कारण ही मनुष्य घोर अनर्थों में आबद्ध होते हैं । यह चञ्चल मन ही सब दुःखों का कारण है । सुषुप्ति दशा में मन गतिहीन हो जाता है । श्रवण करते समय मन को स्थिर करना अनिवार्य है । श्रवण करते समय आस्था न होने से सुनना न सुनना समान है । चित्रित वृक्ष की भाँति वह फलहीन है । असङ्गत तर्क त्याग कर सुविचार के आश्रय से तत्काल फल प्राप्त होता है । अतएव सयुक्तिक विचार पद्धति का आश्रय ले एकनिष्ठा से विश्वास युक्त होकर साधन करना चाहिए । समस्त संसार की प्रवृत्ति विश्वास के ही कारण सफल होती है । पूर्ण पुरुषार्थ करने से फल प्राप्ति अवश्य होती है । कृषकों को धान्य, व्यापारियों को द्रव्य, राजाओं को राज्य, वैभव और ब्राह्मणों को विद्या, पुरुषार्थ और

विश्वास के बल पर ही प्राप्त होती है । देवों को अमृत, तपस्वियों को पुण्यलोक इसी पुरुषार्थ पर ही निर्भर हैं जिसे जो कुछ मिला, पुरुषार्थ और विश्वास से मिला, अतएव विश्वास और प्रमाण पुष्ट विचार से दृढ़ हुये पुरुषार्थ को स्वीकार कर मोक्ष साधन का निश्चय करना चाहिये । मोक्ष के साधन अनेक हैं । उनमें से जिन साधनों से गति बढ़े, जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हों, उसी का आश्रय लेना चाहिये । निष्काम भाव से किये हुये कर्मों का फल ही मोक्ष है ।

जिसकी प्राप्ति होने पर दुख का प्रसङ्ग ही समाप्त हो जाता है, उस परम श्रेय को मोक्ष कहते हैं । सूक्ष्म विचार द्वारा यह ज्ञात होगा कि संसार में सर्वत्र दुख ही दुख है । संसार सुख के मूल में दुख है । सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, राज्य, कोष, सेना, लौकिक यश, विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, सुन्दर नेत्र, भव्य शरीर आदि सभी काल कवलित क्षणिक हैं । इन सव में दुख का वृक्ष उत्पन्न करने वाला सूक्ष्म बीज है । उनसे परम श्रेय कभी नहीं प्राप्त होगा । परमश्रेय का तो भिन्न ही साधन है, धनादि विषयों में सुखाभास मोह के भ्रम से होता है । सारे संसार का निर्माता प्रभु ही मोह उत्पन्न करता है, उसी से सब मोहित हैं । जैसे मान्त्रिक अपनी विद्याबल से संसार को भ्रमित कर देता है, उसी प्रकार महा मायावी ईश्वर ने माया के बल से सम्पूर्ण लोकों को भ्रम में डाल रखा है । जब अल्पज्ञ जादूगर के रहस्य को नहीं समझ सकता तो महा मायावी की माया का रहस्य कौन जान सकता है ? मान्त्रिक की अल्पविद्या उलङ्घन के लिये वैसी ही विद्या सीखनी पड़ती है, वह विद्या उसके सङ्गति एवं कृपा के बिना नहीं प्राप्त होती, उसी प्रकार इस संसार रूप महामोह का यथार्थ रूप समझने के लिये महामायावी ईश्वर की कृपा का सम्पादन आवश्यक है । अतः उसकी शरणागति अनन्य भाव से प्राप्त किये बिना महामोह रूप माया को पार नहीं किया जा सकता माया पार किये बिना परम कल्याण पाना असम्भव है ।

आत्म कल्याण के अनेक मार्ग हैं, परन्तु ईश्वर कृपा के बिना कोई भी मार्ग प्राप्त नहीं होता। अतः सर्वप्रथम उस विश्व सञ्चालक की भक्तिभाव से आराधना करनी चाहिये। वह आराधना ही मोह निरसन का साधन बता देगी।

यदि यह संशय है कि ईश्वर है, इसका क्या प्रमाण है? तो मैं इसका भी तर्कपूर्वक समाधान कर रही हूँ। यह संसार रूप कार्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है, उसका कौन कर्ता है? पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश की उत्पत्ति कहाँ कैसे हुई, यह सावयव पदार्थ हैं। सद्युक्तिपूर्ण अनुमान से तथा सत्शास्त्रों से यह निश्चय है कि इस विशाल विश्व का कोई न कोई कर्ता अवश्य है और वह कर्ता विलक्षण कर्ता है। किन्हीं शास्त्रों का मत है कि "यह संसार स्वयं निर्मित हुआ है।" उस मत को अन्यशास्त्रों ने खण्डन किया है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के पक्षपाती शास्त्र यह भी मानते हैं कि आत्मा है ही नहीं, ऐसे शास्त्रों को केवल शास्त्राभास समझना चाहिए। शुष्क तर्कों से पूर्ण ऐसे शास्त्र त्याज्य हैं। कुछ मतों का यह भी तात्पर्य है—"यदि यह सनातन संसार किसी ने उत्पन्न किया है, तो ज्ञानपूर्वक नहीं किया। यह निसर्ग तत्त्वों से अर्थात्‌जड़ तत्त्वों से बना है", परन्तु यह मत निर्मूल है क्यों कि क्रिया बुद्धि के बिना होती ही नहीं। अनेक शास्त्रों ने इस विश्व के कर्ता पर सयुक्तिक विचार किया है और सिद्ध किया है कि इस विश्व का विलक्षण कर्ता है। उसका व्यवहार अद्भुत है उसके कार्य का आकलन (आगणन अनुमान) नहीं हो सकता। उसका कार्य अचिन्त्य एवं अनन्त है। जब कार्य की मर्यादा नहीं दिखाई पड़ती तो कर्ता की मर्यादा कैसे दिखाई देगी। उसकी मर्यादा अनुमान से भी असम्भव है। अतः हे राजपुत्र! उसी की शरण में जाओ, परम सामर्थ्यवान् ईश्वर की शरण से ही मानव का कल्याण है।

मर्यादित ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति का यदि सच्चे प्रेम भाव से

आश्रय लिया जाता है तब भी वह सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध करता है तो त्रैलोक्याधिपति भक्तवत्सल महाप्रभु अपने जनकी क्यों नहीं रक्षा करेगा ? लौकिक दृष्टि से संसार जन निष्ठुर और कृतघ्न भी निकल जाते हैं परन्तु ईश्वर दया का सागर है। वह कृतज्ञ और बहु फल-दायक है। वह दयालु होने के कारण ही परमपूज्य है, वह सुव्यव-स्थित और सर्वशक्तिमान् है।

अतः हे राजकुमार ! आप अविलम्ब ही उस सर्वसमर्थ प्रभु की शरण ग्रहण कीजिये। परमात्मा की उपासना के अनेक भेद हैं। विपत्ति ग्रस्त होने पर तथा ऐश्वर्य की इच्छा से जो उपासना की जाती है वह अपूर्ण उपासना है। निष्काम भाव से की जाने वाली उपासना ही सच्ची उपासना है। इच्छा लेकर उपासना करने वाले को स्वल्प एवं अनियमित फल प्राप्त होता है। परन्तु निष्काम उपासक के वश में स्वयं ईश्वर हो जाता है।

सकाम उपासक की इच्छा पूर्ण करने के लिये ईश्वर "नियती" की सहायता से उसके पूर्व कर्मानुसार फल देता है। परन्तु निष्काम उपासक को अनन्य भाव से शरणागत जान ईश्वर उसके योग क्षेम का भार धारण करता है। योगक्षेम का अर्थ भक्त की निर्वाह सामग्री को साधारणजन समझते हैं। परन्तु अनुभवी उच्चतम सन्तों ने योगक्षेम का अर्थ भक्त की देह रक्षा ही नहीं माना है अपितु साधक भक्त की साधना, उन्नति और स्थिति का उत्तरदायित्व ले लेना योगक्षेम का अर्थ है। ईश्वर निष्काम उपासकों के पूर्व कर्मों एवं "नियति" की अपेक्षा न करके उसे मोक्ष साधनों में लगा कर सद्य फल देता है। यही उस परम पिता की महेश्वरता और महत्स्व-तन्त्रता है। पूर्व कर्म और नियमों की प्रभुता ईश्वर विमुखों पर ही चलती है। ईश्वर के निष्काम एवं एकनिष्ठ भक्तों पर पूर्व कर्म और नियम शासन नहीं कर सकते। मार्कण्डेय के आख्यान से सब लोग यह जानते हैं कि ईश्वर अपने भक्तों के पूर्व कर्म और नियति का उलङ्घन कर देता है।

वृ
२५५

प्राणनाथ ! यदि प्रारब्ध और नियम अनुलङ्घनीय है तो प्रारब्ध की अभेद्यता पुरुषार्थहीनों को है। यही कारण है कि प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगियों को उनका प्रारब्ध दुःख देने में समर्थ नहीं होता। जो पुरुषार्थ पराङ्मुख हैं वे ही प्रारब्धरूपी सर्प से ग्रसेजाते हैं। यह नियति का ही संकल्प है। अनुभव भी इसी बात को पुष्ट करता है। "नियति" ईश्वर की शक्ति है सङ्कल्प ही उसका स्वरूप है। ईश्वर के सत्य सङ्कल्प होने के कारण यह नियति जीवों को अनुलङ्घनीय होगई है। अकुण्ठित होने पर भी यह ईश्वर भक्तों के लिये कुण्ठित हो जाती है। अतः आप कुतर्क त्याग कर ईश्वर शरण लें तभी सुख के उच्च शिखर पर पहुँच सकेंगे। ईश्वर भक्ती के अतिरिक्त कोई भी सरल और सद्यफलदायक मार्ग नहीं है।

श्री वेदव्यास कह रहे हैं कि हे सूत ! अपनी प्रिया के यह सरस और मधुर भाषण सुनकर विषम दृष्टि को परम प्रसन्नता हुई, वह बोला—प्रियतमे ! अब मुझे यह समझाइये कि जिसकी शरण में मैं जाना चाहता हूँ, उसका स्वरूप क्या है ? जो सबका कर्ता है तथा पूर्ण स्वतन्त्र है, जिसके बल से सारा विश्व सञ्चालित होता है उसका क्या नाम है ? उसे कोई शिव कहते हैं और कोई विष्णु कहते हैं। गणपति, सूर्य, नृसिंह, बुद्ध, अर्हत् आदि अनन्त रूपों में उसकी उपासना होती है। जगत के कारण रूप परमात्मा की विभिन्न सम्प्रदायों से विविधिता प्राप्त है। इनमें किस पर ईश्वर भावना रक्खी जाय ? तू इस विषय को पूर्णतः जानती है, तेरी बातों पर मुझे विश्वास भी हो गया है।

पति के वचनों को श्रवण कर विद्युत्कला कहने लगी—प्राणपति ! सुनो अब मैं आपको ईश्वर का स्वरूप समझा रही हूँ। समस्त संसार रूप आडम्बर की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाला ईश्वर है। वही विष्णु, शङ्कर, ब्रह्मा, सूर्य चन्द्र, दुर्गा, गणपति इत्यादि भेदों से निरूपित है। परन्तु वस्तुतः वह कोई भी

रूप का नहीं है। शैव, पञ्चमुखी, त्रिनेत्र शङ्कर को भी कर्ता समझते हैं। वैष्णव विष्णु को ही सबका मूल मानते हैं। शाक्त शक्ति से ही विश्व की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न मत वाले विभिन्न विभिन्न रूप महाप्रभु को मानते हैं। सामान्य अनुमान से विचार करने पर उस महाप्रभु को चेतन देहधारी मानने में कोई बाधा नहीं। उसे अनेक रूपों में पूर्ण समझना चाहिये। उसका साकार रूप भी वैसा ही शक्तिमय उसके निर्गुण रूप की भाँति सर्व समर्थ एवं सच्चित् आनन्दमय है। व्यवहार में जैसे किसी भी वस्तु का कर्ता चेतन एवं शरीर धारी पाया जाता है वैसे ही विश्व के सर्व समर्थ कर्ता का रूप धारण कर लेना कौन सी कठिन बात है। अशरीर और अचेतन कर्ता कहीं भी नहीं मिलता। दोनों कर्ताओं में कर्तव्य शक्ति मुख्यतः चेतन में ही रहती है। क्यों कि यह अनुभव सिद्ध है कि स्वप्न में जीव अपने स्थूल शरीर को छोड़ कर चैतन्य शरीर से यथेष्ट पदार्थ उद्भूत कर लेता है। इसी आधार से यह भी स्पष्ट है कि कार्य करने वाले चिदात्मा का शरीर एक साधन है। उस साधन की आवश्यकता जीव को होती है। क्यों कि जीव की स्वतन्त्रता मर्यादित है। परन्तु जगत्कर्ता परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है, उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं। उसके शरीर नहीं। यदि ऐसा न होता तो लौकिक कर्ता की भाँति उसे भी साधारण जीव मान लिया जाता। ईश्वर को जगदुत्पत्ति के लिए स्थूल देह की आवश्यकता नहीं होती। परमेश्वर के शरीर शून्य सूक्ष्म रूप में स्थूल बुद्धि के मनुष्यों की मति प्रविष्ट नहीं होतीं, अतएव भक्ति करते समय वे अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार ईश्वर का ध्यान विभिन्न रीति से करते हैं। भक्तों की भावना के अनुरूप ही भगवान् अपना रूप बना लेते हैं। सिद्धान्ततः वह ब्रह्म अविकृत परिणामवाद रूप से आविर्भूत सा होता है। जैसे जल के अविकृत परिणाम रूप से वर्फ की पुतली होती है। अतः भक्तों के भक्त्यर्थं शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति आदि की भावना परब्रह्म में की जाती

है। इसी कारण से यह सभी प्रभु के रूप पूर्ण और सर्व शक्तिमान् हैं। परमात्मा परम चेतन है, शुद्ध चैतन्य ही उसका शरीर है। उसी में उसकी महासत्ता है। यही महास्वामी परमेश्वर ब्रह्मदेव हैं। वस्तुतः एक रूप यह है और संसार इनमें नाना रूपों में भासित होता है। दर्पण में भासित होने वाले प्रतिबिम्ब की भाँति यह सम्पूर्ण चराचर जगत चिद्रूप ही है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थूल देह धारी जो रूप माने जाते हैं उनकी प्रधानता नहीं है। उत्तम जन इसी देह रहित शुद्ध चैतन्य रूप परमेश्वर की उपासना करते हैं। उत्तम पुरुषों का निर्गुण रूप ही उपास्य है। विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि:

"अत्यन्त बुद्धिमान्द्याद्वा सामग्रया वाप्य सम्भवात्। यो विचारं न लभते ब्रह्मैवोपासीत सोऽनिशम्, अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमन्दता के कारण अथवा सम दमादि-सामग्री न प्राप्त होने से यदि विचारोत्पत्ति नहीं होती है तो उपासना ही निरन्तर करनी चाहिये। सामर्थ्य न होने पर रुचि के अनुसार सगुण रूप का ध्यान करना चाहिये। वह ध्यान उपासना निष्काम होनी चाहिये, इससे परम कल्याण प्राप्त होता है।"

हे राजपुत्र! उपासना के बिना दूसरे किसी भी मार्ग से कोटि जन्मों में भी शरीर की सार्थकता नहीं।

अपनी पत्नी के भाषण से विषमदृष्टि परम सन्तुष्ट हुआ। उसे तुरीयावस्था रूप चैतन्य पर पूर्ण विश्वाश हो गया उसने उसी को अपना उपास्य मान लिया और परब्रह्म की उपासना में लीन हो गया।

नवमोऽध्यायः

रहस्योद्घाटन

पिता मदीयः पर तत्व मुच्यते ।
सखीं सतीं बुद्धिमवेहि भूपते ।।
असत्स्वभावा ह्यसती विचार्यताम् ।
यस्यास्तु सङ्गेन मति विदूषिता ।।

श्री वेदव्यास जी कहने लगे—हे सूत ! विषमदृष्टि ब्रह्म उपासना में तन्मय हो गया । एकनिष्ठता और दृढ़ निश्चय से की हुई उपासना से ब्रह्मदेव उस पर प्रसन्न हो गये और फलतः उसका चित्त विषय विमुख हो विचार मग्न हो गया । ऐसी दुर्लभ स्थिति परमेश्वर की कृपा के बिना नहीं मिलती । चित्त का विचारों में लग जाना मोक्ष का मुख्य कारण है । हे सूत ! जब तक चित्त विचार तत्पर नहीं होता तब तक सैकड़ों उपायों से भी परम कल्याण नहीं होता । एक दिन इस प्रकार विचार लीनता की अवस्था में उससे और उसकी पत्नी से एकान्त में भेंट हुई । अपने मन्दिर की ओर अपने प्रिय पति को आता देख कर विद्युत्कला उठी और उसे लेजाकर आसन पर बैठाया । योग्य सत्कार कर अमृत सदृश मधुर और तात्विक भाषण कहने लगी :—आपसे बहुत दिनों में भेंट हुई है । स्वास्थ्य तो अच्छा है न ? यह तो हो ही नहीं सकता कि इतनी अवधि तक मेरा स्मरण न हुआ हो, मुझसे बोले बिना आप एक घण्टा भी व्यतीत न करते थे । मुझसे अनुमति लिए बिना आपने स्वप्न में भी कोई काम न

किया होगा। फिर मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि अब आपको क्या हो गया है। मेरे बिना आपको एक क्षण भी कल्प सदृश था, फिर आप इतनी अवधि तक कैसे अलग रहे ?

विद्युत्कला की मोहमयी बातों को सुनकर भी विषमदृष्टि को किञ्चित् मोह नहीं हुआ। वह बोला—प्रिये ! तू मुझे इस प्रकार मोह में न डाल, मैं तुझे पूर्णतः पहचान गया हूँ। तू बड़ी ही ब्रह्म-ज्ञानवती और धैर्य्यशालिनी है। मैं तुझसे यह पूँछने आया हूँ कि तूने जो अपनी आत्म कथा बताई है उसका स्पष्टीकरण करके बताओ। तेरा पिता कौन है ? तेरी सखी कौन है ? उसका पति कौन था ? उसके लड़के कौन थे ? तूने जो वर्णन किया है वह अन्योक्ति द्वारा किया है। एक बार स्पष्टीकरण करके समझा दे।

पति की बातें सुनकर विद्युत्कला मुस्करा उठी। वह समझ गई कि प्रभु की उस पर महान् कृपा है। उसका चित्त विषय विमुख शुद्ध हो गया है। इसके पूर्व पुण्य उदय हुये हैं। अब इसके प्रबुद्ध होने का समय आ गया है। वह बोध कराने की दृष्टि से बोली :

हे प्राणनाथ ! ईश्वर की कृपा से आज तुम्हारा भाग्योदय हुआ है। उससे पूर्व ऐसा विषय वैराग्य आपको नहीं हुआ था। ईश्वर की सन्मुखता का प्रथम लक्षण भोग विमुखता है तथा दूसरा लक्षण विचार प्रवृत्ति है। अब मैं अपनी आत्म कथा का रहस्योद्घाटन करती हूँ।

परब्रह्म ही मेरा पिता है, बुद्धि मेरी सखी है। यह बुद्धि जिसकी सङ्गति करती थी उसका नाम अविद्या है। अविद्या का अद्भुत सामर्थ्य संसार में स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। रज्जु में सर्प का आभास दिखाकर यही अविद्या महाभय उत्पन्न करती है। इसका पुत्र महामोह है। इस महामोह का पुत्र मन है। मन की स्त्री कल्पना है। इसकी पाँच पुत्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके स्थान शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव हैं। विषयों के सेवन से ही मन के

संसार बनते हैं। पुत्रियों द्वारा बाप की पुष्टि है। चुराकर एकान्त में भोग करना स्वप्न देखना है। कल्पना की अत्यन्त भुक्कड़ बहिन आशा है। उसके दो पुत्र काम, क्रोध हैं। नगर शरीर है। स्वस्वरूप का निरन्तर स्फुरण मेरा महामन्त्र है। मन का प्रचार नामक मित्र प्राण है। अरण्य नरक है। बुद्धि के साथ मेरे समागम का अर्थ चित्स्वरूप में बुद्धि का प्रवेश होना अर्थात् समाधि प्राप्त करना है। मेरे पिता को प्राप्त करना मोक्ष पाना है। इन सब बातों को स्पष्ट समझ कर परमपद प्राप्त कर लीजियेगा।

इस ज्ञान प्राप्ति के लिये बुद्धि प्रौढ होना अनिवार्य है। बुद्धि वही प्रौढ होती है जो त्याग तपस्या से पूर्ण अभ्यसित होती है। इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुना रही हूँ।

एक राजा था, जो पूर्ण बलवान होने पर भी अपने बल को नहीं समझ पा रहा था। उस राजा का एक मन्त्री था, जो परम चतुर एवं कुटिल वृत्ति का था। मन्त्री ने अपने चातुर्य एवं बुद्धिबल से राजा को अपने वश में कर रखा था। मन्त्री की इच्छानुसार ही राजकार्य होता था। एक दिन राजा ने सभा की और विचार किया कि मेरी ही भाँति मेरी प्रजा सुखी और वैभव सम्पन्न हो जावे। इसके लिये प्रजा बुद्धिमती हो। अतः बुद्धि की परीक्षा लेना चाहिये। मन्त्री से राजा ने मन्त्रणा ली। मन्त्री बड़ा चतुर था, उसने विचार किया ऐसी बात बतायें जिससे प्रजा एवं विद्वान् राजकीय कारागार भोगें। उसने कहा—"राजन्! आप अजाशाला बनवायें, उसमें बकरी रक्खें; और सारे शहर में घोषणा करवादें कि जो कोई बकरी को ले जाकर तृप्त कर देगा उसे राजसिंहासन मिलेगा, और जो तृप्त नहीं कर पावेगा उसे कारागार की कठोर यातना भोगनी होगी। यह सुनकर राजा बोला—मन्त्रिन् उससे बुद्धि की परीक्षा कैसे होगी? बकरी जैसे लघु पशु को तृप्त करना कौन बड़ी बात है? मन्त्री बोला—नहीं राजन्! यह बात नहीं, बकरी कभी तृप्त हो ही

नहीं सकती। उसका स्वभाव ऐसा है कि कोई उसे कितना ही खिलाये पर घास दिखाने पर वह पुनः लालायित हो उठती है अतः इस युक्ति द्वारा प्रजा की बुद्धि की परीक्षा हो जावेगी।

राजा ने मन्त्री की मन्त्रणा स्वीकार करली और एक अजाशाला बनवाई। सारे नगर में राजघोषणा हो गई कि—"राजाज्ञा है कि जो कोई व्यक्ति अजाशाला से बकरी लाकर तृप्त कर लायेगा उसे राज सिंहासन प्राप्त होगा और जो व्यक्ति तृप्त नहीं कर पायेगा उसे कठोर कारागार भोगना पड़ेगा।"

राजघोषणा को सुनकर अनेक विद्वान् पण्डित बकरी लेने आये। अधिकाँश प्रजा बकरी ले लेकर उसे तृप्त करने का यत्न करने लगी। सभी मनुष्य बकरियों को रुचिकर गरिष्ठ पदार्थ खिला खिला कर राज दरबार में ले गये। वहाँ मन्त्री ने परीक्षा की। ज्यों ही हरी हरी घास दिखाई त्यों ही वह बकरी घास के लिये लपक पड़ी। बकरी का तो घास पर मुख मारने का स्वभाव ही होता है। अनुत्तीर्ण की घोषणा हो गई। बकरी लाने वाले कठोर कारागार में पहुँचा दिये। इस प्रकार अनेक व्यक्ति कारागार की यातनायें भोगने लगे। यह कार्य क्रम बहुत काल तक चलता रहा। मन्त्री प्रजा को कारागार में डाल कर परम प्रसन्न होता।

इस प्रकार बहुत समय बीत जाने के बाद एक बुद्धिमान् एवं वृद्ध ब्राह्मण ने विचार किया कि यह लोग बकरी की आदत छुड़ाने का तो प्रयत्न करते नहीं, पेट भरने का प्रयास करते हैं। इनकी बुद्धि को धिक्कार है। ऐसे पशुओं की आदत ही छुड़ानी चाहिये। ऐसा विचार कर यह ब्राह्मण राज दरबार में गया और बोला—राजन्! मैं भी बकरी को तृप्त करना चाहता हूँ। उस वृद्ध ब्राह्मण को देख कर राजा मुस्कराये और बोले—"आपको भी राज्य लिप्सा उद्भूत हो गई। आप तो विद्वान् हैं। अनेकों विद्वान् ब्राह्मण कारागार की यातनायें भोग रहे हैं। क्या आपको भी वहाँ का दुख भोगने

की अभिलाषा है ?" ब्राह्मण बोला--राजन् ! सब नर होंहि न एक समाना............मैं अवश्य ही इस बकरी को तृप्त करके लाऊँगा। राजा ने मन्त्री को आज्ञा दी कि इस ब्राह्मण को भी बकरी दी जावे। मन्त्री ब्राह्मण को साथ लेकर अजाशाला में गया और एक स्थूल बकरी दी। ब्राह्मण बोला--यद्यपि इसे मैं खूब खिलाऊँ पिलाऊँगा, तथापि इसे तृप्त करने में बहुत समय लगेगा। मन्त्री ! मैं छः मास के उपरान्त इस बकरी को तृप्त करके लाऊँगा। मन्त्री ने विचार किया कि छः महीने क्या यदि १० वर्ष इसके यहाँ रहे तब भी यह अपना अभ्यास नहीं छोड़ सकती। वह वृद्ध ब्राह्मण बकरी लेकर घर चला गया।

घर आकर उसने बकरी एक लोहे के कटहरे में बन्द करदी। उस कटहरे में एक द्वार था और एक छेद ऊपर भी कर दिया था। ब्राह्मण जब द्वार से घास दिखाता था तभी बकरी घास के लिये लपकती थी। वह ब्राह्मण एक डण्डा लेकर बैठता था। घास की ओर लपकते हीवह ब्राह्मण डण्डे से उसकी खबर लेता था। मुख पर तड़ाक से डण्डा लगते ही बकरी पीछे भाग जाती थी; जब पुनः घास दिखाता तब पुनः वह आती और डण्डा खाती। इस प्रकार द्वार से घास दिखा दिखा कर वह ब्राह्मण बकरी को मारा करता था। उस कटहरे के ऊपर वाले छिद्र से शाम को खाने के लिये घास डाल दिया करता था। इस प्रकार नित्य करने से बकरी समझ गई; ऊपर से जो घास आती है वह खाने के लिये है, और जो द्वार से दिखाई जाती है वह डण्डा मारने के लिये है। इस प्रकार कई महीने अभ्यास से बकरी ने द्वार से घास दिखाने पर द्वार पर लपकना छोड़ दिया। वह डण्डे की मार से भयभीत हो चुकी थी। अब ब्राह्मण इस द्वार पर घास ले जाता, तब वह पीछे भाग जाती और जब उस द्वार की ओर घास ले जाता तब वह उस द्वार की ओर मुख कर लेती। और ऊपर से डालने पर वह बड़े जोरों से लपक कर लेती थी। ब्राह्मण ने विचार किया अब ठीक बकरी का

पूर्ण अभ्यास हो गया, अब किसी भी प्रकार द्वार की ओर दिखाई जाने वाली घास की ओर यह नहीं दौड़ेगी।

उसने जाकर राजा को सूचना दी—"हे राजन्! आप की बकरी पूर्ण तृप्त हो गई है। मैंने खूब ही खिलाया है। खाते खाते वह इतनी बलिष्ठ और खूँख्वार हो गई है कि इसे लोहे के कटहरे में रखना पड़ता है।"

राजा बोला—वाह! तब तो बकरी को पूर्ण तृप्त किया होगा?

"हाँ महाराज! बकरी पूर्ण तृप्त है?"

"ब्रह्मन्! बकरी को यहीं लाया जावे।"

"राजन्! यहाँ आते ही वह मनुष्यों पर टूट पड़ेगी और १०,५ व्यक्तियों को फाड़ खायेगी।"

"हाँ महाराज! उसका विचित्र ही रूप हो गया है।"

राजा ने कहा मन्त्रिन्! जाओ उस बकरी की दशा देख आओ। क्या वह अब सिंहनी बन गई है?

मन्त्री बड़े ही वृद्ध थे, दाड़ी और जटायें बड़ी लम्बी लम्बी थीं। वह बड़ी प्रसन्नता से दाढ़ी हिलाते हुये, ब्राह्मण के पीछे पीछे चल दिये। घर में प्रवेश होते हुये ही ब्राह्मण बोला—हे मन्त्री महोदय! जरा सावधान रहना। मन्त्री जी पैजामा फड़फड़ाते हुये बकरी के कटहरे के पास पहुँच गये। कटहरा आदमी की ऊँचाई के बराबर था। चारों ओर से बन्द था। मन्त्री को इस विचित्र बकरी को देखने की आतुरता थी। ब्राह्मण ने कटहरे के ऊपरी छिद्र के ढक्कन को खोल दिया और उस ओर सङ्केत करके कहा—"मन्त्री जी! इस छिद्र से देख लीजिये, परन्तु रहना सावधान।"

मन्त्री जी उचककर उस छिद्र से झाँकने लगे। छिद्र से झाँकने से उनकी दाढ़ी उस छिद्र में लटकने लगी। दिनभर की क्षुधातुर बकरी ने समझा कि मेरा भोज्य आ गया है। लपक कर उसने दाढ़ी पकड़ ली और लगी जोर से खींचने। मन्त्री महोदय के होश

हवास उड़ गये। लटके लटके चिल्लाने लगे—अरे ब्राह्मण देव ! बचाओ, बचाओ। इस बकरी ने मेरी दाढ़ी पकड़ ली है। बकरी कब छोड़ने वाली थी, उसे दिन भर बाद घास मिली, वह लगी झटका देने और खींचने। मन्त्री कष्ट के कारण चिल्लाने लगे।

ब्राह्मण बोला—मन्त्री जी ! इससे छुड़ाने का मेरे पास कोई उपाय तो नहीं है, बाहर द्वार पर एक दर्जी है; उससे कैंची लिये लेता हूँ। कैंची से दाढ़ी काटने पर भले आप बच जावें। इतना कहकर ब्राह्मण कैंची ले आया और बोला—मन्त्री ! मैंने आप से पहले ही कहा था कि सावधान् रहना, बकरी बड़ी भयङ्कर है।

मन्त्री बोले-भैया ! मैंने इसकी इतनी भयङ्करता नहीं समझ पाई थी। अब आप किसी प्रकार इससे छुड़ा लीजिये। ब्राह्मण कैंची से मन्त्री की दाढ़ी काटने लगा। उल्टी सीधी कैंची चलने से मन्त्री जी की खाल भी कटने लगी। मन्त्री बोले—भैय्या खाल कट रही है "जरा सम्भाल कर" ब्राह्मण ने कहा—"क्या मैं नाई हूँ ?" मैं तो किसी न किसी प्रकार आपको छुड़ा रहा हूँ। इस प्रकार ब्राह्मण ने धीरे धीरे खूब कष्ट देकर मन्त्री की दाढ़ी काट दी। चर्म कटने के कारण मन्त्री का मुख रक्त रञ्जित हो गया।

मन्त्री को लेकर ब्राह्मण राजदरबार में पहुँचा। मन्त्री की दशा देखकर राजा मुस्कराये और बोले-मन्त्रिन् ! यह कैसी दशा ?

ब्राह्मण बोला—राजन् ! मैंने इनसे कहा कि बकरी से दूर रहो। ये कटहरे से देखनें लगे। उसका यह फल है। भगवान् की बड़ी दया हुई जो बकरी बन्द थी, नहीं तो मन्त्री जी संसार से कूँच कर जाते।

बकरी की प्रशँसा सुनकर राजा ने आज्ञा दी कि बकरी को लाया जाय। ब्राह्मण के साथ राजा ने सेना भेजने की आज्ञा दी ब्राह्मण बोला—ओ महाराज ! वह बकरी मुझे बहुत हिली है।

अतः मैं अकेले ही ले आऊँगा। मन्त्री ने विचार किया कि हमारी दाढ़ी कटवाने का छल इसी ब्राह्मण ने किया, अब बकरी के लाने से बदला चुका लूँगा। ब्राह्मण बकरी लाया। राजा ने देखा कि बकरी बड़ी ही दुर्बल है; और इसी बकरी को इतना भयङ्कर बतलाया जाता है। राजा बोला---मन्त्री! इस बकरी की परीक्षा की जाय। दुर्बल बकरी को यह कैसे तृप्त वताता है। मन्त्री हरी भरी घास लाया और वकरी के मुख की तरफ़ ले गया, परन्तु बकरी का तो अभ्यास था ही वह घास देखते ही फौरन पीछे भाग गई। उसने समझा डण्डा आगया। सब लोग आश्चर्यचकित हो गये। मन्त्री ने पुनः घास दिखाई और बकरी फिर छटक कर पीछे भाग गई। राजा ने पूँछा---मन्त्री! बकरी घास नहीं खाती। ब्राह्मण बोला—राजन्! बकरी पूर्ण तृप्त है। यह यावज्जन्म घास नहीं खायेगी। मैंने पहले ही कहा था इसे पूर्ण तृप्त करके लाऊँगा। राजा अपनी प्रतिज्ञानुसार राजसिंहासन से उतर गये। ब्राह्मण को राजसिंहासन मिल गया। मन्त्री भी दण्डित हो गये, बकरी भी तृप्त हो गई। ब्राह्मण ने कहा, अब हम राजा हैं। सभा बोल उठी हाँ विप्रवर! ब्राह्मण ने आज्ञा दी हमारे राज्य में कोई भी कारागार में न रहे सभी विनिर्मुक्त किये जाँय। ब्राह्मण सभी तथा अन्य जन कारागार से मुक्त हो गये।

हे सूत! इस दृष्टान्त का रहस्य यह है कि परमात्मा परब्रह्म ही महाराज है संसारी जीव ही प्रजाजन हैं। ईश्वर चाहता है, हमारे ही अँशमय जीव प्रजा को स्वस्वरूप रूपी साम्राज्य प्राप्त हो जावे। वह जीवों को बुद्धि रूपी बकरी देता है। और उसे तृप्त करने का आदेश देता है। मन रूपी मन्त्री है, जिसकी संकल्प बिकल्पात्मक दाढ़ी है। जीव अज्ञानवश उसे विषयरूपी घास दे देकर तृप्त करना चाहता है। उससे बुद्धि का अभ्यास विषयों की ओर विशेष बढ़ता है। मन रूपी मन्त्री द्वारा परीक्षित होने पर

बुद्धि विषय रूप घास की ओर ही दौड़ती है। तब जीव को चौरासी लाख योनि रूप कारागार दिया जाता है। इस प्रकार यह जीव अनन्त काल से आज तक भटकता फिरता है। बुद्धि रूपी बकरी को सन्तुष्ट करने का बहुत यत्न करता है। सिनेमा हाल आदि भोग सामग्रियों से यह जीव बुद्धि को तृप्त करना चाहता है। पर उसका स्वभाव और भी बढ़ता है। कोई विरला ही विज्ञानी होता है जो बुद्धि रूपी बकरी को विषय घास दिखा कर शम, दम, उपरति, वैराग्य आदि के डण्डे मारता है। जो जीव मानव शरीर रूपी कटहरे में वन्द करके बुद्धि रूपी बकरी को विषय से विराग में अभ्यास करा लेता है, उसी की बुद्धि रूपी बकरी मन रूपी मन्त्री की सङ्कल्प विकल्प रूपी दाढ़ी को नोच लेती है। मन के सङ्कल्प विकल्प नष्ट होते ही जीव स्वस्वरूप की ओर चल पड़ता है। राजसभा में राजा द्वारा परीक्षा लेने पर जब जीव उत्तीर्ण हो जाता है, तभी स्वस्वरूप साम्राज्य को प्राप्त हो जाता है और अपने पुण्य प्रतापं से इक्कीसवीं पीढ़ी पूर्वापर स्वर्गरूप अन्य लोगों का उद्धार करते हैं। यह उद्धार प्राप्त करना कारागार से मुक्त होना है। यह सुन कर सूत जी बोले—गुरुवर ! इस प्रकार का कौन विज्ञानी हुआ जिसने अपनी बुद्धि रूपी बकरी विषय घास न खाने में अभ्यस्त करली है, मुझे उदाहरण देकर समझाइये।

व्यास जी बोले—"हे सूत ! इस प्रकार का जीव पूर्व काल में एक हुआ जिसका उल्लेख उपनिषदों में आता है। उसका नाम नचिकेता था। इस प्रकार के बहुत से जीव हुये हैं। वेदों, शास्त्रों में अनेक उदाहरण हैं। उसमें उपनिषदों का ज्वलन्त उदाहरण दे रहा हूँ।"

वाजश्रवा नाम के ऋषि का नचिकेता नाम का एक पुत्र था। उसकी बुद्धिरूपी बकरी विषय घास से विमुख थी। वह पिता के आक्रोश के कारण यमपुरी गया। वहाँ यमराज से ब्रह्म विद्या का प्रश्न किया। यमराज ने विचार किया इसकी बुद्धि ब्रह्मविद्या से

प्राप्य जो स्वरूप साम्राज्य है उसके उपयोगी हुई या नहीं। अतः परीक्षार्थ विषय घास रखी। यमराज बोले—हे पुत्र! काकदन्त परीक्षा की भाँति निरर्थक ब्रह्मविद्या की चाह छोड़ दे। तुझे मैं अत्युत्तम पदार्थ देता हूँ, जिससे मृत्यु लोक पर विजय होती।

नचिकेता बोला—देव! वह कौन से पदार्थ हैं जिससे मृत्युलोक पर जय होता है।

यमराज—हे नचिकेता! तुझे मैं चिरञ्जीवी पुत्र देता हूँ।

प्रभो! पुत्रों से क्या होगा?

"तो लो तुझे पौत्र भी देता हूँ।"

"इनसे तो दुःख बढ़ेंगे।"

"उस दुःख निवृत्ति के लिये अनेक पशु, गौ प्रदान करता हूँ। वह सब पशु क्या यथेष्ट सुखी बना पावेंगे?"

नचिकेता! तो तुम्हें गजादि वाहन भी प्रदान करता हूँ। तथा स्वर्गादि भूषण दूँगा।

देवराज! इन सबसे तो और भी दुःख होंगे, कोई अन्यायी राजा हुआ तो वह सभी पृथ्वी आदि पर अपना स्वायत कर लेगा, तब तो बड़ा ही कष्ट होगा।

"पुत्र! चिन्ता न करो, तो मैं तुम्हें स्वतन्त्र चक्रवर्ती सम्राट बना दूँगा।"

तब नचिकेता बोला—प्रभो! मुझे यह सुख सब दुखदायी ही प्रतीत होते हैं। मैं इन्हें नहीं चाहता, मुझे तो ब्रह्मविद्या का ही उपदेश दीजिये।

यमराज ने विचार किया इसकी बुद्धि परिपक्व है। यह विषय रूपी घास पर नहीं दौड़ती, अतः इसे दिव्य भोग दिखाने चाहिये। यमराज बोले—नचिकेता! यदि तुम्हें सार्वभौम सम्राट् पद में भी दुःख मालूम होते हैं तो मैं तुम्हें स्वर्ग के दिव्य भोग देता हूँ। यह इन्द्र भोग्य अप्सरायें लो, यह तुम्हारी सेवा करेंगी। रामा, सरथा,

सतूर्या, तिलोतमा इत्यादि परम सुन्दर अप्सरायें, जो मानवों को अति दुर्लभ हैं, तुम्हें देता हूँ। नचिकेता बोला—देव ! इन सबके भोग से इन्द्रियाँ प्रतिहत हो जाती हैं और शक्ति हीन व्यक्ति आत्म साक्षात्कार में अयोग्य होता है। अतः प्रभो ! मुझे यह नहीं चाहिये। यह आप अपने भोग्य पदार्थ अपने पास रखिये। यह सुन कर यमराज ने समझ लिया यह ब्रह्म विद्या का अधिकारी है। उसकी बुद्धि यथार्थतः विषय विमुख है। यमराज ने प्रसन्न होकर नचिकेता को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया, जिससे वह आत्म स्थिति पाकर कृतकृत्य हो गया।

दशमोऽध्यायः

आत्म दर्शन

असु तनु मति मुक्तं पञ्चकोशादतीतम् ।
परम सुख निधानं शुद्ध चैतन्य रूपम् ।।
इति मनसि निजं स्वं स्वात्मना संविचार्य ।
सपदि विषम चक्षु लंक्ष्य सिद्धि ञ्चकार ।।१०।।

विद्यु त्कला के तत्वपूर्ण वचनों से विषमदृष्टि आनन्द मय हो गया । गद्गद् कण्ठ से बोला—प्रिये ! तू धन्य है, तूने परम निपुणता से आत्म स्थिति का सम्पूर्ण रहस्य कहानी रूप में समझा दिया । मैं तेरे ज्ञान की क्या प्रशँसा करूँ ? तेरे इस परम श्रेयमय उपदेश से मैं कृतार्थ हो चुका हूँ । अब तू परम गुह्य तत्वज्ञान की प्रक्रिया समझादे । ब्रह्म तुम्हारा पिता कैसे हैं ? उससे तेरा जन्म क्यों और कैसे हुआ ? हम कौन हैं ? हमारा स्वरूप क्या है ।

श्री वेदव्यास बोले—हे सूत ! इस प्रकार पूछने पर विद्यु त्कला बोली—हे नाथ ! यह बड़ा ही गूढ़ रहस्य है इस विषय को समझने में बड़े बड़े तपस्वी भ्रमित हो जाते हैं । मैं आप को सरल रीतिसे यह रहस्य समझा रही हूँ । प्रथम बुद्धि को शुद्ध कर आत्म स्वरूप का विचार कीजिये । यह आत्मतत्व दिखाने अथवा समझाने के योग्य नहीं है । फिर मैं उसका निरूपण कैसे करूँ ? जब आपको आत्मस्वरूप का बोध हो जावेगा तब आप को अपने और मेरे पिता का सम्बन्ध ज्ञात हो जावेगा । इस स्वरूप के विषय में किसी के

उपदेश की इतनी अपेक्षा नहीं जितनी अपनी शुद्ध बुद्धि की। निर्मल बुद्धि द्वारा ही आत्मशोध किया जाता है। यह आत्मतत्व देवादिकों से लेकर क्षुद्र कीट पतङ्गों तक सभी में है। यह आकार से दिखाई नहीं पड़ता। वह सर्वत्र सर्वकाल में अनुभव में आता है। उसका अँशतः भी निरूपण कोई नहीं कर सकता। कितना भी कुशल उपदेशक क्यों न हो, आत्म स्वरूप का दर्शन नहीं करा सकता। उपदेशक की आवश्यकता केवल मार्ग दिखाने में होती है। अतः मैं मार्ग बता रही हूँ। आत्मतत्व प्राप्ति का यही उत्तम मार्ग है कि आपको जो "अपना" प्रतीत होता है। उससे भिन्न अर्थात् जो— "अपना न कहा जा सके" वही आत्मा का स्वरूप है। एकान्त में बैठकर एकाग्र व निर्मल चित्त से सूक्ष्म विचार कीजिये—"जिस वस्तु को अपना अनुभव करो उसे त्याग करने के उपरान्त जो शेष रह जावे वही आत्मा है।"

उदाहरणार्थ मुझको हो लीजिये। आप मुझे अपनी पत्नी समझते हैं, मैं आपकी आत्मीय हूँ। आत्मा नहीं, इस प्रकार आप समस्त "मम" भाव दूर करते जाँय। प्रथम आप राज, वैभव, पिता, पत्नी से अपने को पृथक् समझें; फिर शरीर मन बुद्धि चित्त अहङ्कार इत्यादि को "मम" समझकर त्याग करें, शेष जो रहे, जिसका त्याग ही न हो सके, वही आत्मा है। हे प्राणनाथ! अब आप इसी प्रकार से विचार कीजिये। मन को सब स्थान से खींचकर विचार द्वारा आत्मा में लगावें। यह आत्मा अनुभव एवं स्वयं क्रिया द्वारा प्राप्त होती है।

अपनी पत्नी की बातें सुनकर राजपुत्र विषमदृष्टि तत्काल उठा और नगर के बाहर चला गया। वहाँ एक रम्य उद्यान में स्फटिक मणि का सुन्दर मन्दिर था। उसका उच्चतम शिखर गगन स्पर्श कर रहा था। विषमदृष्टि उस मन्दिर के ऊपरी कक्ष पर चढ़ गया। द्वारपाल को आदेश दिया कि यहाँ कोई भी न आये। मैं यहाँ एकान्त में विचार कर रहा हूँ।

इस प्रकार द्वारपाल को आज्ञा देकर वह राजपुत्र मन्दिर की नवीं मञ्जिल पर चला गया। वहाँ एकान्त में कोमल आसन पर आसीन हो गया और चित्त को एकाग्र करके विचार करने लगा।

"मैं कितना मूढ़ हूँ। मैंने अपने को नहीं समझ पाया? मैं कौन हूँ? मैंने अपने लिये अनेक उद्योग किये। विद्या प्राप्त की, द्रव्य सम्पादन किया, शत्रुओं से घोर युद्ध किया, विषय भोग में निरत रहा, पर कभी भी यह नहीं विचार किया कि जिसके लिये यह सब कृत्य किये जा रहे हैं वह मैं कौन हूँ। कैसा हूँ? जो जो दुर्लभ पदार्थ मैंने संग्रहीत किये, वे सब निष्फल हो गये। वे सब स्वप्न सदृश हैं। मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। कि यह राजप्रासाद, धनधान्य वैभव, कोष, मदमत्त गज, वायुवेगी अश्व, सुन्दरी स्त्रियाँ कोई भी हमारा स्वरूप नहीं हैं। इन सब वस्तुओं में मैं तन्मय था। यह सब मेरे लिये हैं मैं नहीं। यह देह जिसके लिये यह सब भोग पदार्थ हैं, वह भी मैं नहीं। देह तो रक्त मांसाविष्ट अस्थि का घर है। यह तो पाँचों तत्वों का विकार है। शरीर मेरा है "मैं" तो शरीर से भिन्न कोई अपूर्व ही हूँ। इस शरीर का तो प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। काल गति से इस शरीर का कणकण परिवर्तित होकर नष्ट हो रहा है और मैं तो सदैव रहने वाला अविनाशी हूँ। क्या मैं चक्षु आदि गोलकों में रहने वाली "इन्द्रियाँ रूप हूँ"? पर यह भी सम्भव नहीं, इन्द्रियाँ भी तो पञ्चतत्वों से ही निर्मित हैं। इन्द्रियों की स्वयं कोई सत्ता नहीं। इनका अस्तित्व किसी दूसरे के ही आधार पर आधारित है। तो क्या मैं प्राण हूँ? नहीं, नहीं, प्राण भी मैं नहीं हो सकता, उसमें यह दोष है कि वह कुछ जानने में समर्थ नहीं। नींद में वह चलता रहता है पर अपने चतुर्दिक् स्थित वस्तु को नहीं जान सकता। मेरा स्वरूप ज्ञानवान् है। प्राणों में कोई ज्ञान नहीं, अतः प्राण मेरा है, "मैं नहीं।"

क्या मैं "मन" रूप हूँ ? परन्तु मन क्या है ? अनेक वृत्तियों के समूह को मन कहते हैं, उसमें कौन सी वृत्ति "मैं" हूँ ? जैसे शरीर में अनेक सूक्ष्म परमाणु हैं। उसी प्रकार मन में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियाँ हैं। उनमें कुछ आती हैं, कुछ जाती हैं, उनमें स्थिर कोई नहीं। मेरा स्वरूप तो सदैव रहने वाला है अतः मैं चञ्चल वृत्तिरूप मन नहीं हूँ। तो क्या मैं, बुद्धि हूँ ? बुद्धि का रूप तो निश्चयात्मक है। पर निश्चय भी तो अस्थिर है। बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति भी सदैव एक नहीं रहती, वह भी परिवर्तन शील है। अतः मैं कुछ और ही हूँ। प्राण, मन, बुद्धि के लिये "मैं" शब्द प्रयोग नहीं हो सकता, इनमें "मेरा" शब्द प्रयोग होता है। अतः "मैं" निस्सन्देह कोई विलक्षण हूँ। मैं सर्वदा ज्ञाता रूप हूँ। सदैव अनुभव में आने वाले "मैं" को कैसे जान सकूँ ? संसार वस्तुयें घट पटादि तो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आती हैं। प्राण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जाना जाता है। मन उसके होने वाले ज्ञान से जाना जाता है। बुद्धि भी अपने अस्तित्व मात्र से समझ ली जाती है। परन्तु इन सबको जानने वाले "मैं" को किसके द्वारा जानूँ ? विद्युत्कला ने बताया था कि सबका त्याग करते जाना, सब त्याग करने के बाद जो शेष रहे वही आत्मा है। तो अब बुद्धि तक को तो मैं त्याग कर चुका हूँ, अब किसको त्यागूँ और किसके द्वारा त्यागूँ? अच्छा ! अब सङ्कल्प एवं विचार को ही त्याग दूँ।

इस प्रकार विचार कर विषमदृष्टि ने अपने सभी सङ्कल्पों का निरोध कर लिया। उस समय उसे एकाग्रता से अन्धकार का अनुभव हुआ। उस शान्त, शुद्ध, निस्सङ्कल्प अवस्था को ही उसने अपना स्वरूप, और कुछ आनन्द का अनुभव किया।

कुछ दिन इस प्रकार अन्धकार में ही वह आनन्द मानता रहा। एक दिन उसे उस अन्धकार में एक दिव्य तेज दृष्टिगोचर हुआ। वह आश्चर्य में पड़ गया, क्या मेरा रूप प्रकाशमय है। कुछ देर के

वाद उसे प्रकाश में शान्ति का अनुभव हुआ, और वह निद्रा में लीन हो गया। उसमें उसने विचित्र स्वप्न देखा। राजपुत्र ने विचार किया—यह क्या ? स्वप्न का अर्थ मन का विलास। यह अन्धकार, यह दिव्य तेज, यह स्वप्न, सभी कुछ माया का रूप है, हमें अपने स्वरूप का दर्शन नहीं हुआ। उसने मनोनिग्रह करके चित्त को पूर्ण स्थिर किया। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि मानों वह आनन्द के समुद्र में निमग्न हो गया। चित्त की गति के कारण वह फिर सचेत हो गया। विचार करने लगा कि यह क्या कोई भ्रम है ? मैंने किसी भी विषय का अनुभव नहीं किया, फिर भी अपार सुखानुभूति कैसे हुई। विषय भोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार ऐसी सुख प्राप्ति हो ही नहीं सकती। मैं आत्मा का अन्वेषण कर रहा हूँ परन्तु मुझे आत्मानुभव तो होता नहीं अन्य अनेक अनुभव हो रहे हैं। क्या आत्मा, प्रकाश रूप है ? अथवा अन्धकार रूप ? किंवा सुख ही आत्मा है ? अथवा यह सब रूप आत्मा के ही हैं ? इस विषय में अपनी प्रिया से ही पूछना चाहिये।

द्वारपाल को भेजकर राजपुत्र ने अपनी पत्नी को अपने निकट बुलाया। आते ही उस तत्वज्ञा रमणी ने देखा कि राजपुत्र शान्त चित्त होकर एक आसन पर स्थिर है। उसका श्वास शनैः शनैः चल रहा है। नयन बन्द हैं, मुख पर दिव्य आभा झलक रही है। विद्यु-त्कला अपने पति को ध्यानावस्था में देखकर उसके निकट आसन पर बैठ गई।

नेत्र खोलने पर अपनी प्राण प्रिया को सम्मुख देखकर राजपुत्र प्रसन्न हुआ, और बोला—"हे प्राणप्रिये ! तेरे कथनानुसार मैं आत्मदर्शन की इच्छा लेकर यहाँ बैठा हूँ। मैंने अपने मन को शुद्ध शान्त करके एकाग्र कर लिया है। निस्तब्धावस्था में मुझे कभी अन्धकार, कभी प्रकाश, कभी, आनन्द, कभी प्रसन्नता आदि का अनुभव होता है। मुझे अद्‌भुत अद्‌भुत पदार्थ दिखाई पड़ते हैं।

क्या यही आत्मा का स्वरूप है ? अथवा कुछ भिन्न है ? मुझे स्पष्ट रूप से समझाइये।

वह ब्रह्मज्ञानिनी स्त्री विद्युत्कला कहने लगी—प्राणनाथ ! मन निरोध करना आत्मदर्शन में प्रमुख साधन है। आपने मन को निस्सङ्कल्प कर लिया यह परमोत्तम है। इसके बिना कभी किसी को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु वाह्य निरोध ही आत्मा प्राप्ति नहीं है। क्योंकि आत्मा प्राप्त ही है। यदि वह प्राप्त होने वाला है, तो वह आत्मा ही कैसा ? और विचार कीजिये तो आत्मा सर्वथा अप्राप्य भी है, क्योंकि उसकी प्राप्ति असम्भव है। जो वस्तु सदैव प्राप्त रहती है उसकी प्राप्ति कैसी ? अतः आत्मा अप्राप्य है। उसकी प्राप्ति होने पर मन का निरोध व्यर्थ है। जब तक ज्ञान नहीं तभी तक एक मन निरोध की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ-अन्धेरे में कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। दीपक के प्रकाश में वह वस्तु पूर्ववत् प्राप्त हो जाती है। अथवा यदि किसी का चित्त उद्विग्न होने से उसे स्वयं रखे हुये, स्वर्णाभूषण का विस्मरण हो जाता है, और जब वह मन को एकाग्र करता है, तब वह स्वर्णाभूषण पुनः प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार नित्य प्राप्त आत्मा को अन्य विचारों में तन्मय होने के कारण विस्मृत कर बैठे हैं। मन के निरोध से अन्य विचार दूर हो जाते हैं। आप आत्मा को नहीं पहचान सके, इसका कारण यह नहीं कि आपको आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। आत्मदर्शन करके भी आप उससे परिचित नहीं हैं, जैसे कोई मनुष्य रात्रि में राजसभा में गया, उसने सभी सभासदों को देखा और वहाँ जलते हुये दीपक को भी देखा। वह यह नहीं जानता कि प्रकाश क्या है ? अतः यह भी नहीं जान सकता कि यह प्रकाश कहाँ से आ रहा है। यही दशा आप की है। मन निरोध करने पर आपने अन्धकार देखा। अन्धकार देखने से प्रथम और मनोनिरोध के उपरान्त मध्यकाल में जो भी आपकी दशा रही है, वही आत्मा

का स्वरूप है। आप उसी का ध्यान कीजिये। वही परमानन्ददायक भाव है। उसी स्थान में वहिर्मुख साधक महामोह ग्रस्त हो जाते हैं। उस स्थिति की खोज करते करते श्रान्त हो जाते हैं।

संसार में अनेक व्यक्ति शास्त्र वेत्ता बुद्धिमान् तर्कपटु हैं, परन्तु उस स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण रात दिन दुख भोगते रहते हैं। शब्दों का अर्थ जान लेना ही परमपद नहीं। जब तक कोई पण्डित उसके अन्वेषण में हो, अथवा उसके सम्बन्ध में विचार कर रहा हो, तब तक समझना चाहिये कि उसे वह पद प्राप्त नहीं हुआ है। क्यों कि वह ग्राह्य नहीं है। वह वस्तु कहीं दूर जाने पर भी प्राप्य नहीं है। किसी भी स्थान पर वह सदैव प्राप्त है। वह विचार के द्वारा नहीं जाना जाता। जिस क्षण विचार बन्द रहते हैं, उस समय ही वह प्रकाशित रहता है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में वह स्वरूप से स्थित रहता है। दौड़ने से जैसे मस्तक की छाया हस्तगत नहीं होती वैसे ही किसी क्रिया के द्वारा वह नहीं मिलता। समीपस्थ दर्पण में उतरे हुये अनेक प्रतिबिम्बों को बालक देख सकता है, परन्तु दर्पणभर को वह देख नहीं सकता। उसी प्रकार सब लोग आत्मा रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित संसार चित्र को देखते हुये केवल परिचय न होने के कारण आत्मा को नहीं जानते। आकाश को न पहचानने वाला मनुष्य आकाश में ही रहने वाले इस जगत पदार्थ को तो प्रत्यक्ष देखता है परन्तु वह आकाश को नहीं देख पाता। उसी प्रकार आत्मा में स्थित यह संसार दृष्टिगोचर होकर भी वह नहीं दिखाई पड़ता।

नाथ! आप अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार कीजिये, यह सारा दृष्ट संसार ज्ञान और ज्ञेय इन दो पदार्थों से बना है। उन दोनों में ज्ञान अर्थात् अनुभव स्वयंसिद्ध है, यदि वह न हो तो कुछ भी नहीं है। सब प्रमाणों का वही आधार है। अर्थात् वह स्वयमेव है। उसके लिये अन्य प्रमाण नहीं हैं, उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता

भी नहीं। और इसीलिये वह सर्व प्रथम सिद्ध है। उसकी सिद्धि इस प्रकार नहीं होती कि उसका अमुक साधन है, ज्ञान सिद्ध करता है। यदि प्रश्न यह उठे कि ज्ञान है कैसे ? तो यही उत्तर है, कि यदि ज्ञान नहीं होता तो उसके लिये आक्षेप कैसे ? प्रत्युत्तर कैसे ?

किसी बड़े दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति यह जगत उसी पर भासमान होता है। वह देशकाल की मर्यादा से रहित है। यह दोनों उसी में भासित होते हैं। उसे ज्ञान कहने से जो सीमा बद्धता आती है, वह आकाशस्थ वस्तुओं का स्वयं आकाश को व्याप्त करने की भाँति आभास है। आप सूक्ष्म दृष्टि से विचार कीजिये कि आपका स्वरूप भी उसी प्रकार का है। उसी सर्वमान्य ज्ञान चैतन्य पर यह जगत खड़ा है। उससे एकरूपता का अनुभव करके उस अनुभव को सहजसिद्ध (स्वाभाविक) बना लेना चाहिये। ऐसा होने पर सब कुछ सिद्ध समझना चाहिये।

आपको उसे ढूढने का स्थान बताती हूँ। (१) निद्रा और जाग्रत की मध्यवस्था में। (२) एक वस्तु के ज्ञान त्याग के उपरान्त, द्वितीय वस्तु के ज्ञान होने के पूर्व। (३) हृदय की वृत्ति जब किसी पदार्थ पर पहुँचने वाली हो, उस क्षण। इन क्षणों में जो स्थिति रहती है, उसे सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ध्यान में लाइये, यही परमपद है, आत्मस्वरूप है। इसे प्राप्त होने पर मोह नहीं होता। इसका ज्ञान न होने के कारण ही यह जगत् इतना विस्तृत प्रतीत हो रहा है। इस आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि कुछ भी नहीं हैं। वहाँ दुख का लेश नहीं, सुख भी नहीं वह ग्राह्य भी नहीं वह ग्राहक भी नहीं, वह सब का आधार है। वह सब रूपों में प्रकट होता है। और उनमें है नहीं। यही सर्वेश्वर है, यही ब्रह्म है, यही विष्णु शङ्कर है। चित्त को स्थिर करके सद्रूप आत्मा से आत्मा को ही देखिये। चित्त को दृश्य से निकाल कर, अन्तर्मुख होकर "अब मैं देखता हूँ" इस अभिनय को भी त्याग कर, निस्सङ्कल्प निस्तब्ध

होकर देखने और न देखने दोनों ही भावनाओं को त्यागकर देखिये। उस क्षण जो शेष रहे वही आपका स्वरूप है। अविलम्ब से आप उसी अवस्था का सेवन कीजिये।

विद्युत्कला के बतलाने पर विषमदृष्टि ने उसी प्रकार का अनुभव किया। अल्प समय में ही उसने आत्मपद की प्राप्ति कर ली। उसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो गई। उसे शरीर एवं वाह्य जगत् का पूर्ण विस्मरण हो गया।

एकादशोऽध्यायः

विद्या नगर

महीप पुत्रस्य वधू प्रभावतः ।
नराधिपो मन्त्रिगणाः सभासदः ।।
नराश्च नार्याश्च तथा विटानटाः ।
समे जना जीवन मुक्तितां ययुः ।। ११ ।।

श्री वेदव्यास जी सूत जी से कह रहे हैं कि आत्मज्ञान का बोध करके विषमदृष्टि समाधि में रहने लगा । आत्मस्थिति में बैठकर वह आनन्दित रहने लगा ।

एक दिन वह ध्यानस्थ आत्मानन्दाब्धि में गोता लगा रहा था, तब तक उसकी प्रिया विद्युत्कला उसके समीप आकर बैठ गई । कुछ देर बाद राजपुत्र ने नेत्र खोले और अपनी स्त्री एवं वाह्यजगत् का अवलोकन किया । उसकी इच्छा ध्यानस्थ रहने की थी, अतः तत्क्षण ही उसने नेत्र बन्द करने चाहे । उसकी इस अवस्था को देखकर विद्युत्कला बोली—हे प्राणनाथ ! आप यह क्या कर रहे हैं ? मैं इतने देर से बैठी हूँ, आपने आँख खोलने पर भी मुझे नहीं देखा । आपको नेत्र खोलने एवं बन्द करने में क्या लाभ हानि है ? नेत्र खोलने से क्या चला जाता है, और बन्द करने पर क्या मिल जाता है ? इस स्थिति में आपको क्या सुख है ? राजकुमार की इच्छा बोलने की नहीं थी । उसे आलस्य मालूम होता था । तथापि वह कहने लगा—प्रिये ! बड़े परिश्रम और दीर्घकाल के उपरान्त
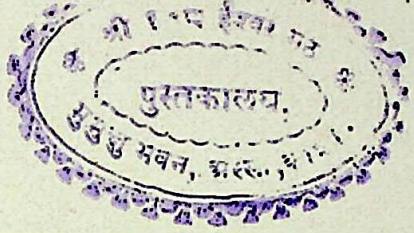
❀ विद्यानगर में ज्ञानोपदेश ❀

आत्म विश्रान्ति प्राप्त हुई। दुख से भरे रूक्ष जगत में विश्राम का स्थान कहाँ है? नीरस छिलकों के सदृश इस वाह्यव्यवहार की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। दुर्दैववश आजतक मैं इस आत्मसुख से वञ्चित रहा, अब मुझे व्यवहार की ओर देखने की भी रुचि नहीं। अपने घर में गड़े हुये खजाने को न जानने के कारण मनुष्य भिक्षा माँगता है। जब उसे अपना कोष ज्ञात हो जाता है, तब वह भला क्यों किसी के द्वारे भिक्षा के लिये जावेगा। मैं स्वसुख सागर को न जान कर दुःख समुदायपूर्ण विषय सुखों को ही श्रेष्ठ समझता था। विद्युत्सदृश क्षणभङ्गुर सुख मुझे चिरस्थायी प्रतीत होते थे। उनके पीछे पड़ने से मुझे दुःख भोगने पड़े। ओह! विश्व के मनुष्य कितने मूढ़ हैं। वे सुख दुख का किञ्चित् भी विचार नहीं कर सकते। वे सुख की खोज दुखदायी वस्तुओं में करते हैं। मुझे अब सर्वस्व प्राप्त हो गया है। तेरी कृपा से मैं अब पूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ। अब मुझे उसी आनन्द स्थिति में रहने दे। अरे! तू क्यों घूमती? तुझे तेरा पूर्ण ज्ञान है, तू भी आत्मानन्दाब्धि में गोता लगा। पागलों की भाँति तू क्यों संसारी दुःखों के लिये भटकती है। परमपद का ज्ञान पाकर भी तू समाधिस्थ क्यों नहीं? अब जा मुझे अपने स्वरूप का आनन्द लेने दे।

अपने पति के वचनों को सुन कर विद्युत्कला के अधरों पर स्मित रेखा फैल गई। वह बोली—प्राणनाथ! अभी तक आपने उस पावन पद को पूर्णतः नहीं पहचान पाया। उस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर अन्तःकरण पूरा-पूरा खुल जाता है। तब मोह का अंश भी नहीं रहता। वह स्थान आपको इतना ही दूर है, जितना दूर नभस्थ चन्द्र माता के क्रोड में स्थित बालक को होता है। क्या वह स्थान नेत्र बन्द करने से ही दीखता है? क्या खोलने से वह अदृश्य हो जाता है? किसी कार्य को करने से वह हट जाता है क्या? कहीं जाने अथवा न जाने से क्या वह स्थान नहीं प्राप्त होता? नेत्रबन्द करने से कुछ भी क्रिया न करने से कहीं न जाने से जो

वस्तु प्राप्त होती है, क्या वह पूर्ण है ? चावल के चार दानों के बराबर नेत्र बन्द कर देने से यदि वह परम पद अन्तर्धान हो जाता है तो वह पूर्ण पद कैसा ? वाह ! वाह ! राजकुमार यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि जिसके एक कोने में अनेक ब्रह्माण्ड पड़े हैं वह आत्म स्वरूप इस लघु नेत्र के पलक के भीतर रहता है ? हे राजन् ! अभी आप अपूर्ण हैं, केवल समाधिस्थ होकर ही आत्मस्वरूप को देख पाते हो। वह तो प्रतिक्षण प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक दशा में दिखाई पड़ता है। सुनो, मैं अब आपको इसका सम्पूर्ण रहस्य बताती हूँ।

राजन् ! जब तक हृदय ग्रन्थि नहीं खुलती, तब तक सुख नहीं प्राप्त होता है। मोह नाम की रज्जु पर कोटिशः हृदय ग्रन्थियाँ निर्मित हैं। स्वरूप का अज्ञान ही मोह रज्जु है। उस पर विपरीत ग्रहात्मक ग्रन्थियाँ हैं। प्रथम ग्रन्थि तो देहादिकों में आत्म बुद्धि है। उसी के कारण यह संसार इतना बड़ा और अनिवार्य बन गया है। "केवल भासमान जगत् में आत्मा नहीं है" यह निश्चय ही द्वितीय ग्रन्थि है। ईश्वर और जीव भिन्न हैं, यह तीसरी ग्रन्थि है, और जीवों को भिन्न-भिन्न समझना यह चौथी ग्रन्थि है। यह स्वरूप का अज्ञान अनादि काल से उत्पन्न हुआ है और उलझ-उलझ कर ग्रन्थि बन गया है। इसी में जीव बद्ध है। इस ग्रन्थि के मुक्त होते ही जीव बन्धन मुक्त हो जाता है। नेत्र बन्द कर उस पद को प्राप्त करने की इच्छा को त्याग दो। वह पद अर्थात् आपका शुद्ध स्वरूप सब आकारों को निरसन करने पर शेष रहने वाली शुद्ध संवित है। वही इस संसार का चित्र दिखलाने वाला दर्पण है। आप यह बतायें, वह कहाँ और किस रूप में नहीं है। यदि आप कहें यह आत्म सम्वित् अमुक समय में अमुक स्थान में अमुक रूप में नहीं है तो वह देश काल ही वन्ध्या पुत्र की भाँति मिथ्या है। यह बात वैसे ही असम्भव है जैसे बिना आदर्श के प्रतिबिम्ब। सारांश यह है कि

इस सम्वित् पद के अभाव में कहीं कुछ भी नहीं है। तब फिर वह आपके आँखें खोलने से कैसे लुप्त हो जाता है? जब तक हृदय में यह दृढ़ ग्रन्थि है कि मैं उसे जनता हूँ तब तक वह प्राप्त नहीं हुआ। जो वस्तु प्राप्त हुई, वह पद नहीं है। जो पद आपको नेत्र बन्द करने, और खोलने से प्राप्त है, वे पूर्ण पद नहीं। क्योंकि आप तो उन्हें काल और क्रिया की मर्यादा से बाँधते हैं।

हे राजपुत्र! विचार कीजिये। कालाग्नि सदृश वह महासंवित् कहाँ नहीं है। अनेक कल्पना रूपी ईंधन राशि को यह अग्नि की भाँति आत्म रूप कर देता है। उस परम पद को जानने पर आप को नेत्र निमीलन की आवश्यकता नहीं रहेगी। आप अपने हृदय की उस ग्रन्थि को तोड़ दीजिये कि "मैं मन का निरोध कर उसे देखता हूँ।" दूसरी बात यह कि आप इस भाव को भी निर्मूल कर दीजिये कि यह जगत् आत्म रूप नहीं है। चतुर्दिक अखण्ड आनन्द आत्म रूप को देखिये। इस प्रकार देखने का अभ्यास कीजिये कि दर्पण पर प्रतिबिम्ब की भाँति सब लोग आत्म स्वरूप पर भासित होते हैं। अपने में यह भावना भी न जाग्रत होने दो कि "मैं" सर्वत्र आत्मरूप देख रहा हूँ। सामान्य चैतन्य में मिलकर स्वरूप में मग्न हो जाइये।

इस भाषण को सुनकर विषमदृष्टि का अन्तःकरण बिल्कुल शान्त हो गया उसकी सभी भ्रान्ति दूर हो गई। वह पूर्ण आत्म-स्वरूप को समझ गया। क्रमशः पूर्ण तद्रूपता प्राप्त होकर, उसे स्थिरता प्राप्त हो गई।

इसके अनन्तर पृथ्वी पर रहकर उसने राज्य किया विद्युत्कला आदि स्त्रियों से विहार किया। युद्ध में शत्रुओं को जीता, स्वयं अनेक शास्त्रों को श्रवण कर लोगों को सुनाने की व्यवस्था की। द्रव्य सञ्चय करके उसने अश्वमेध राजसूय आदि यज्ञ भी किये। इस प्रकार वह दो अयुत वर्षों तक जीवन मुक्त अवस्था का अनुभव करता रहा।

विषमदृष्टि को जीवन मुक्त दशा में देखकर राजा ज्ञानदृष्टि और उसके भाई समदृष्टि ने विचार किया कि विषमदृष्टि पूर्वावस्था से बिल्कुल भिन्न क्यों दिखाई पढ़ता है ? यह अब तो न सुख में सुखी और न दुख में दुखी दिखाई पड़ता है। इसे लाभ हानि, शत्रु मित्र समान मालूम होते हैं। यह राज कार्यों को नाटक के पात्रों की भाँति केवल लीला से देखता है। सदैव अपने ही आनन्द में मस्त रहता है। इसका मन कहीं अन्यत्र किसी अपरिमित सुख में डूबा रहता है। यह इसकी दशा कैसे हो गई ?

एक दिन एकान्त में दोनों ने विषमदृष्टि से भेंट की और उसकी इस दशा का वृत्तान्त पूँछा—हे विषमदृष्टि। तुम्हारी यह अवस्था कैसी है। तुम सब कुछ करके भी अकर्ता हो। तुम जो कुछ भी करते हो वह उपेक्षा से करते हो। तुम भोक्ता होकर भी अभोक्ता हो। यह क्या मर्म है।

विषमदृष्टि ने कहा—हे पिता जी ! मेरी इस दशा को प्राप्त कराने का श्रेय आपकी वधू विद्युत्कला को है। मैंने संसार का पूर्ण रहस्य जान लिया। मेरी दृष्टि में संसार "है ही नहीं" आप से व्यवहार के समय में बोल रहा हूँ वस्तुतः अनुभव में मैं ही नहीं हूँ।

विषमदृष्टि की बात सुनकर ज्ञानदृष्टि को आश्चर्य हुआ कि विषमदृष्टि क्या कह रहा है।

विषमदृष्टि ने अपने पिता ज्ञानदृष्टि को आत्म स्थिति का क्रमशः सम्पूर्ण रहस्य समझा दिया। तदन्तर समदृष्टि ने भी विषमदृष्टि से पूर्णरूपेण आत्मज्ञान कर लिया। बोध हो जाने पर दोनों ही परमपद प्राप्त कर जीवन मुक्ति की दशा को प्राप्त हो गये। राजा द्वारा मन्त्रियों ने भी आत्मतत्व पर विचार किया और वे भी परम ज्ञानी हो गये। सैनिकों और साधारण जनों ने भी आत्म स्थिति प्राप्त करली। इस प्रकार उस विशाल नगर में परस्पर एक दूसरे से उपदेश लेकर क्रमशः सभी तत्वज्ञ हो गये। वहाँ के पुरुष

स्त्रियाँ, बाल, वृद्ध, दास, दासी, नट, विट सभी ज्ञानी हो गये। सभी का शरीर सम्बन्धी अहम् भाव नष्ट हो गया। किसी को काम, क्रोध, लोभ अमर्याद नहीं रहा। सभी काम, क्रोध को जीत कर व्यवहार करने लगे। मातायें लड़कों को खेल खिलाते समय ब्रह्मवार्तायें करती थीं। दास, दासी, स्वामी सेवा करते समय आपस में ब्रह्म विचार करने लगे। नट लोग तात्विक कथा प्रसङ्गों से पूर्ण नाटक खेलते थे। गायक ब्रह्मबोधपूर्ण गान गाते थे। विदूषक व्यवहार का उपहास करते थे। शास्त्री शिष्यों को आत्मतत्व पूर्ण बोध शास्त्र पढ़ाते थे। सभी नगर वासी ज्ञानी थे। उनका व्यवहार प्राक्तन् संस्कारों से चलता था कोई इस बात का स्मरण भी न रखता था कि अमुक् बात शुभ हो गई या अशुभ। उनका व्यवहार सिनेमा हाल के चित्रपट पर चलते हुये चित्रों जैसा था। किसी को यह चिन्ता नहीं थी कि भावी घटना से सुख होगा या दुख। सभी वर्तमान में हँसते और आनन्दित रहते। प्रसङ्गवश खेद और क्रोध भी करते पर उस खेद व क्रोध का प्रभाव उन पर कुछ न पड़ता। उनका व्यवहार प्रारब्धवश स्वयं चलता था।

श्री वेदव्यास जी कहते हैं कि हे सूत! वहाँ के तोते भी पिजड़ों में ब्रह्मविद्या का उपदेश देते थे। प्रसङ्गवश वहाँ जाकर और उनकी वाणी सुनकर वामदेव ने उस का नाम विद्यानगर रख दिया।

इस प्रकार विद्युत्कला द्वारा बोध किये जाने पर राजा विषम-दृष्टि जीवन मुक्त हुआ और अपने सम्पूर्ण नगर का कल्याण किया। अतः परम कल्याण का मुख्य साधन सत्सङ्ग ही है। जिसे कल्याण की इच्छा हो वह सन्तों का सहवास करे।

पुस्तकालय

द्वादशोऽध्याय

संसार है ही नहीं

प्रभासते विश्वमिदं जडात्मकम् ।
चिदात्मभित्तौ प्रतिबिम्ब रूपकम् ।।
स्वतो न सत्ता जगतश्च विद्यते ।
यथा प्रतीति र्नगरस्य दर्पणे ।। १२ ।।

इस प्रकार विषमदृष्टि की अद्भुत कथा सुनकर सूत जी आश्चर्य और संशय में पड़ गये। वे कहने लगे—गुरुवर ! आपने जो अद्भुत ज्ञान बताया है वह मुझे बड़ा ही विचित्र और असम्भव प्रतीत होता है। आपके कथनानुसार यह दृश्य जगत् केवल चैतन्य स्वरूप कैसे हो सकता है ? प्रत्यक्ष तो यह विभिन्न रूपेण प्रतीत होता है। नानारूपों में भासित होने वाला यह संसार ब्रह्ममय कैसे है ? इस बात को आप स्पष्ट रीति से समझाइये।

सूत जी की बातें सुनकर श्री व्यास जी बोले—हे सूत ! इस दृश्य जगत् का रहस्य बड़ा ही गम्भीर है इसे बड़े से बड़े विद्वान् भी नहीं समझ पाते हैं। यह सारा जगत् दृङ् मात्र है। अर्थात् दृष्टा साक्षीमात्र है दूसरा कुछ नहीं। मैं अब इसकी रहस्यात्मक उत्पत्ति बतलाता हूँ, तू एकाग्र चित्त से सुन।

यह दृश्य संसार एक कार्य है। उसका कारण उत्पत्ति होने में मिलता है। उत्पत्ति का अर्थ है नूतनता के साथ भासित होना। इस प्रकार देखने में संसार प्रत्येक क्षण नूतन रूप से भासमान होता

है। कुछ लोग कहते हैं कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परन्तु नदी प्रवाह रूप से नित्य रहने वाला है। विद्वान् इसे स्थावर और जङ्गम पदार्थों से बना बताते हैं। कुछ भी हो यह सत्य है कि यह संसार उत्पन्न हुआ है। परन्तु स्वभावतः अपने आप स्वयं उत्पन्न नहीं है। यदि स्वयं उत्पन्न होता तो घट, घट ही क्यों बना, घट वस्त्र क्यों नहीं बन गया। यह क्रम स्वयं कैसे चलता? इसके अतिरिक्त कार्यकरण सम्बन्ध सर्वत्र होता है। योग्य सामग्री रहने पर कार्य होता है। किञ्चित् न्यूनता होने पर नहीं। अतः संसार का स्वभावतः उत्पन्न होना सम्भव नहीं। यह भी अनुभव की बात है कि जो कार्य जैसे किया जाता है, वह वैसे ही सफल होता है। तो फिर ऐसा कैसे कहें कि यह संसार आप ही आप उत्पन्न हो गया। अब यदि संसार का कारण दिखाई न देता हो तो यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका कारण ही नहीं। अनेक विषयों में जो न्यास उपयोगी होता है उसकी स्वीकृति यहाँ भी रखनी चाहिये। कई बार कार्यों के मूल में कारण दिखाई देता है। यदि न दिखाई दे तब भी उसका अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। अन्यथा समस्त लोक व्यवहारों में विरोध हो जावेगा। तात्पर्य यह है कि सभी कुछ सकारण है। इसीलिये जब कुछ करना होता है तब उसका कारण एकत्रित किया जाता है। सर्वत्र सदैव ऐसा ही होता है। अतः यह कहना अनुचित है "कि संसार स्वयं उत्पन्न हो गया।" किन्हीं विद्वानों का मत है कि "यह जगत् अव्यक्त जड़ परमाणुओं से बना है" वह भी ठीक नहीं, क्योंकि संसार व्यक्त है। यदि यह कहा जावे कि उसके अत्यन्त भिन्न रूप और नाश के अनन्तर बिल्कुल न रहने वाले अव्यक्त जड़ परमाणुओं से उत्पन्न होता है, तब तो सत् और असत् की एकता प्रमाणित होती है जो परस्पर विरोधात्मक है। यह नितान्त असम्भव है कि प्रकाश ही अन्धकार हो। फलतः इस मत पर विरुद्ध धर्म का एक पर आरोप होने वाला

सङ्कर दोष लगाया गया है। अब यदि ईश्वरेच्छा ही संसार का कारण मानी जावे तब भी शङ्का है कि केवल इच्छा से कार्य बिना मूल परमाणुओं से गति कैसे उत्पन्न होती है ? यदि यह मत माना जावे कि संसार गुण साम्यात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। तब भी अनुचित है, क्योंकि प्रकृति के गुणों में प्रथम तो विषमता के कारण मिलने चाहिये और फिर उनमें साम्य होने के भी कारण चाहिये। परन्तु ऐसा एक भी कारण नहीं है। जब प्रकृति चेतन की अधिष्ठान नहीं है तब यह जगत्कार्य उत्पन्न कैसे हो सकता है ? सारांश यह है कि इस जगतकार्य का कुछ भी कारण नहीं मिलता। अतएव ऐसे अदृष्ट विषय का निर्णय करने के लिये वेदान्त का ही आधार लेना चाहिये। दूसरे प्रमाण सुसङ्गत नहीं हैं। क्योंकि प्रमाता जीव स्वयं अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अनुमान से भी कहीं यह नहीं सिद्ध होता है कि कार्यकर्त्ता के बिना होता हो। अनुमान से यह भी सिद्ध है कि जगत् का कोई कर्ता है। वह चेतन है। जब कार्य आलौकिक है तो उसका कर्ता भी असाधारण होना चाहिये। उसकी शक्ति भी विलक्षण है। उस पूर्णस्वरूप ईश्वर तत्व को जानने के लिये निर्बंधि प्रमाण वेद ही है। वेदों में कहा गया है कि सृष्टि से पूर्व एक पूर्ण स्वतन्त्र महेश्वर था। उसके पास कोई सामग्री नहीं थी। उसने अपनी स्वतन्त्रता एवं शक्तिमत्ता से अपने स्वरूप भूत पट पर संसार रूपी चित्र अपने विलास के लिये बना लिया। जैसे स्वप्न में अथवा कल्पना में कोई मनुष्य देह निर्माण करके और उसको "मैं" समझ कर उससे व्यवहार करता है। वैसे ही महेश्वर स्थूल संसार को उत्पन्न करके उस पर "मैं" का भाव रखता है। जैसे स्वप्न में यह देह लुप्त होने के कारण सच्चे स्वरूप का नाश नहीं होता, वैसे ही प्रलयकाल में संसार का लोप हो जाने से प्रभु लोप नहीं होता।

सारांश यह है कि संसार को ग्रास करने वाला पूर्ण और अन्तिम महा सत्ता चैतन्य ही है। जैसे समुद्र के बिना तरङ्ग और

सूर्य के बिना तेज की सत्ता नहीं हो सकती, तथैव संवित् रूप आत्मा से भिन्न संसार की सत्ता नहीं हो सकती। जैसे समुद्र और उसकी तरङ्ग में एकरूपता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ में एक शुद्ध चेतन ईश्वर ही था। उसी से यह चराचर जगत उत्पन्न हुआ। उसी पर यह संसार रहता है और उसी में लय हो जाता है। यहीं वेदों का आशय है। इसमें संशय करना अनुचित है। जिन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जाता उनके बारे में वेद ही प्रमाण हैं। वेद कहते हैं कि यह संसार ईश्वरमय है। चैतन्यमय स्वतन्त्र ईश्वर ने स्वात्म चैतन्यरूपी भित्ति पर सम्पूर्ण संसार चित्र बनाया है। यह चित्र चैतन्य पर स्थित होने के कारण यह चैतन्यमय ही है। आदर्श के प्रतिबिम्ब की भाँति यह संसार परमेश्वर के स्वरूप पर है। हे सूत ! तू यह तो जानता ही है कि तेरी स्वप्न सृष्टि में अनेक जीव, जड़ पदार्थ आदि मन में उत्पन्न होते हैं और अन्त में मन में लय हो जाते हैं। जैसे तेरी सृष्टि मनोमय है। वह केवल चैतन्य रूप ब्रह्मदेव है, उसमें अनन्त शक्तियाँ एकत्रित हैं। वह सर्व मर्यादा शून्य पूर्ण व्यापक है। व्यवहार में देश तथा काल रूप से दो प्रकार की मर्यादा है। उसमें देश आकारात्मक और काल क्रियात्मक होता है, और आकार तथा क्रिया दोनों चैतन्य के आश्रय हैं। अतः चैतन्य पर मर्यादा का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

चैतन्य अर्थात् ज्ञान कला सर्वत्र सर्वकाल में है। जहाँ अनुभव ही न हो वह है कैसे ? पदार्थों का होना प्रकाशित होना चाहिये। अस्तित्व ही प्रकाश है। प्रकाश ही चैतन्य है। प्रकाश का अर्थ भान अनुभव है। यही वस्तु मुख्य है। जड़ पदार्थ इनकी सङ्गति से प्रकाशित होते हैं, स्वयं नहीं। परन्तु शुद्ध चैतन्य किसी की सहायता बिना स्वयं प्रकाशित होता है। यदि कहा जावे कि प्रकाशित न होने पर भी पदार्थ का अस्तित्व है, तो व्यवहार में "है", "नहीं" का कुछ अर्थ नहीं होगा। जो नहीं है उसे "है" कहना पड़ेगा।

अस्तित्व चैतन्य का ही प्रकाश है, जैसे दर्पण का अस्तित्व ही प्रति-बिम्ब का अस्तित्व है। वैसे ही चैतन्य संसार का अस्तित्व है और इसी कारण सम्पूर्ण संसार चैतन्य है। यह सत्य है कि संसार में विशिष्ट आकार दिखाई पड़ते हैं। परन्तु वे चैनन्य की अङ्गभूत घनता एवं निर्मलता के कारण दिखाई पड़ते हैं। उनके दिखाई पड़ने में आकारों की स्वतन्त्र सत्ता कारण नहीं। जहाँ कहीं प्रति-विम्ब दिखाई पड़ता है वहाँ वह पदार्थों की अङ्ग की कठिनता और निर्मलता के कारण दिखाई, पड़ता है। यह धर्म जैसे जैसे न्यूनाधिक रहते हैं, वैसे वैसे ही वह प्रतिबिम्ब स्पष्ट अथवा अस्पष्ट दिखाई पड़त। है। दर्पण में यह दोनों धर्म रहते हैं। अतएव उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है जल में निर्मलता रहती है परन्तु कठिनता कम रहती अत एव उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता। आदर्श जड़ होता है और स्वतन्त्र नहीं है, अतः उस पर प्रतिबिम्बित होने के लिये वाह्य अन्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। परन्तु चैतन्य पूर्ण स्वतन्त्र है, अतः उसे बिम्ब की आवश्यकता नहीं। चैतन्य में कोई मल नहीं है। इसलिये उसकी निर्मलता स्वतः सिद्ध है। अन्य पदार्थों पर मल लग सकता है, परन्तु जब चैतन्य अकेला और अखण्डित है, तब उस पर मल अथवा दोष लगना सम्भव नहीं। अपितु उसकी सर्वव्यापकता के कारण उसकी शुद्धता सर्वाधिक है। जो स्वयं भासित न होकर दूसरे के अनुसङ्ग से भासित होता है, उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं। संसार इसी प्रकार का है, क्योंकि स्वयं कभी भी भासित नहीं होता। वह चैतन्य ज्ञान तथा अनुभव के आश्रय से ही भासित होता है। इसीलिए संसार की तुलना प्रतिबिम्ब से भली भाँति की जाती है। चैतन्य दर्पण की तरह है, क्योंकि उस में अनेक भिन्न भिन्न भाव दीखते हैं। तथापि वह दर्पण की भाँति अपने से किञ्चित् भी च्युत नहीं होता। वह पुनः प्रतिबिम्ब दिखाने के लिये सिद्ध रहता है। दर्पण पर प्रतिविम्ब तो उससे भिन्न है

परन्तु चिदात्म पर प्रतिविम्ब संसार उससे भिन्न नहीं। दर्पण पर प्रतिबिम्ब दूसरे बिम्ब के कारण पड़ता है परन्तु चैतन्य पर यह संसार रूपी प्रतिबिम्ब उसकी स्वतन्त्रता के कारण पड़ता है। यही ईश्वर की विशेषता है।

हे सूत ! तू भी चेतन है। तू स्वयं अनुभव करके देख। अपने सङ्कल्प के बल से अपने में किसी बिम्ब के विना तथा अन्य किसी निमित्त के विना अनेक भाव प्रतिबिम्बित होते हैं। यह सङ्कल्प का बल ही स्वतन्त्रता का स्थूल स्वरूप है। निस्सङ्कल्प अवस्था में चैतन्य नितान्त शुद्ध रहता है। शुद्धैक रूप चैतन्य में जो महास्वतन्त्रता है वही जब संसार की उत्पत्ति के पूर्व सङ्कल्प का स्वरूप धारण करती है, तभी यह प्रतिविम्बात्मक संसार भासित होता है। जब सङ्कल्प की दृढ़ता होती है तव यह चिरस्थायी दिखाई पड़ता है। वह सबको सदृश दिखाई देता है। उसमें ईश्वर की पूर्ण स्वतन्त्रता ही कारण है। जीव की स्वतन्त्रता मर्यादित है। जिससे उसका मनोमय संसार उस एकाकी को ही दिखलाई देता है। मणि, मन्त्र, औषधि आदि की सहायता से अभ्यास वश जीव को अपूर्णता ज्यों ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों उसके सङ्कल्प में सामर्थ्य बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ—इन्द्रजाल विद्या के द्वारा कुछ भी सामग्री के न रहने पर भी केवल सङ्कल्पवश सृष्टि दिखलाई जाती है। वह सबको समानरूपेण प्रतीत होती है। वह स्थिर सी मालूम होती है और उसमें सत्य वस्तु की भाँति व्यवहार भी होता है। अन्त में वह अपने में ही लय हो जाती है। यह संसार भी वैसा ही है।

दूसरे उदाहरण से विचार करो। योगियों की मन सृष्टि का सङ्कल्प अनुभव उनके सङ्कल्पबल से सभी को हो जाता है। योगियों की सृष्टि अधिकाँश चिरस्थायी भी रहती है। पर योगियों की शक्ति भी परिमित है। जिस शक्ति से उनकी सृष्टि वाह्य पदार्थों पर खड़ी होती है वह शक्ति उनमें मर्यादित है। परन्तु चैतन्यदेव परमात्मा

की शक्ति अपरिमित है। जिससे उसकी सृष्टि उसके स्वतन्त्र रूप में ही प्रकट होती है। साराँश यह है कि जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का भिन्न अस्तित्व हो ही नहीं सकता, वैसे ही चेतन के बिना संसार का अस्तित्व नहीं। इस विचार से संसार मिथ्या सिद्ध होता है। जो सत्य होता है वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, जो असत्य होता है वह स्थिर नहीं रह सकता, वह अपने स्वरूप का त्याग कर देता है। हे सूत ! यह संसार बड़ा चञ्चल है अर्थात् क्षणिक है। तू दर्पण और उसके प्रतिबिम्ब की भाँति उसके स्वरूप का स्पष्ट विचार कर। दर्पण अचल है, प्रतिबिम्ब चल है। उसी प्रकार संसार चल है और उसका आधार चैतन्य अचल है। संसार की सभी अवस्थायें काल गति से बदल जाती है। एक ही समय में भी वे सर्वत्र एक रूप से नहीं रहती। संसार के सब भाव अनिश्चित हैं। सूर्य का प्रकाश सब पदार्थों को प्रकाशित करता है परन्तु उलूकादि कतिपय पक्षियों को अन्धकार देता है। अतः सूर्य का प्रकाश भी निश्चित नहीं कि प्रकाश है या अन्धकार ? ऐसे ही विष को समझो। यह सभी के लिए विष और उससे उत्पन्न होने वाले कीट के लिये जीवन दाता है। भीतियाँ मनुष्य का अवरोध करती हैं परन्तु गुह्यक, किन्नरादि योगियों का अवरोध नहीं कर पातीं। काल और प्रदेश को मनुष्य बड़ा विस्तृत मानता है परन्तु देवता और योगियों के लिये यह बात नहीं।

दर्पण में दृष्टिगोचर होने वाले दृश्य दूरी जिस प्रकार आदर्श रूप होने के कारण मिथ्या एवं अस्थिर है, उसी प्रकार विचार करने पर संसार का रूप भी मिथ्या और अस्थिर है। अतएव यह सिद्ध है कि सर्वाश्रयभूत चैतन्य के बिना कुछ भी सत्य नहीं। जिसका अस्तित्व मालूम होता है, वह सब शुद्ध चैतन्य है। हे सूत ! इस प्रकार संसार केवल चैतन्य स्वरूप ही हैं।

श्री वेदव्यास जी के तात्विक विवेचन से सूत जी परम प्रसन्न हुये।

त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्म राक्षस से शास्त्रार्थ

ततः पयः पूर प्रवाहितस्य ।
हृदस्य कूले वट पादपस्थः ।।
खादन् विवादे विजितान् मनुष्यान् ।
स राक्षसः लोचन गोचरोऽभूत् ।। १३ ।।

श्री वेदव्यास द्वारा संसार का यथार्थ विवेचन सुनकर सूत जी का हृदय ज्ञानामृत से परिपूर्ण हो गया। वह बोले—गुरुवर ! आपने जो तत्व समझाया है, वह मैं यथार्थ रूपेण समझ गया। परन्तु हमारे हृदय में इस बात का निश्चय नहीं हुआ कि यह तत्व ज्ञान किसे होता है ? उस ज्ञान की स्थिति क्या होती है ? उस ज्ञान का सुलभ साधन क्या है ? शरीर रहते हुये भी ज्ञानियों को शरीर का भान कैसे नहीं होता ? मुझे ज्ञानी को पहचानने के लिये लक्षण बतलाइये। व्यवहार करने पर भी ज्ञानियों का मन अनासक्त कैसे रहता है ? "हे गुरुवर ! आप की वाणी में अमृत है, उससे हमारा मन तृप्त नहीं होता। कृपया ज्ञान का सूक्ष्म रहस्य सरलता पूर्वक समझा दीजिये।

सूत की बात सुनकर श्री वेदव्यास जी बोले—हे सूत ! तुझे मैं अब सार तत्व बतलाता हूँ। मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो। परमेश्वर की कृपा ज्ञान का मुख्य साधन है। जो अनन्य भाव से परमात्मा की शरण में जाता है। उसे अत्यन्त सुलभ रीति से

निश्चय पूर्वक ज्ञान होता है। यही साधन सर्वोत्तम है, इसके अति-रिक्त अन्य पूर्णफल दायक नहीं है।

पदार्थों को भासमान करने वाले ज्ञान रूप चैतन्य पर अविद्या नाम का कल्पित आवरण है, वह आवरण जब विचार से नष्ट हो जाता है, तब उसके स्वरूप का निश्चय ज्ञान हो जाता है। अन्य वाह्य पदार्थों पर आसक्त रहने वाले मनुष्यों को यह ज्ञान होना दुर्लभ है। ईश्वर भक्तों का ध्यान वाह्य विमुख रहता है। वे नित्य मनन में तत्पर रहते हैं। अतएव उन्हें ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान अनायास हो जाता है। ईश्वर भक्ति परायण मनुष्य अन्य साधन न रहने पर भी, स्वस्वरूप का पूर्ण ज्ञान न होने पर भी, अन्य भक्तों से उसका निरूपण करने लगता है। निरूपण करते करते उसका चित्ततदाकार हो जाता है। इस तन्मयता के दृढ़ होने पर उसका चित्त अखण्ड उपास्य के आकार का बन जाता है। तब उसे हर्ष, शोक नहीं होता। उसका जिस जिस से सम्बन्ध होता है, उस उस को वह उपासक अपने उपास्य के रूप में मिला देता है। इस क्रम से उसकी चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि होने पर उत्तम ज्ञान स्वयं प्रादुर्भूत हो जाता है, जिससे वह जीवन मुक्त हो जाता है। अतएव उत्कृष्ट भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से भक्तों के सामने ईश्वर स्वरूप का निरूपण करना ही ज्ञान का उत्कृष्ट साधन है। अतः हे सूत ! प्रेम से परमेश्वर की महिमा का वर्णन करना चाहिये।

अब मैं तुम्हें ज्ञानियों का लक्षण बताता हूँ इन लक्षणों को पहचानना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानियोंका स्वरूप नितान्त गुह्य है। वे नेत्र वाणी आदि से नहीं जाने जाते। अतः उन्हें ज्ञानियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता और न बतला ही सकता है। जैसे किसी शास्त्रज्ञ की पहचान उसके कपड़े एवं स्वरूप से नहीं होती, वैसे ही ज्ञानियों की पहचान उनके वस्त्रादिकों एवं व्यवहार से नहीं होती। हम जो मिठाई खाते हैं उसकी मिठास हम ही जानते

हैं, उसी प्रकार ज्ञान स्व संवेद्य (अपने आपको ही मालूम होने वाला) है। ज्ञानी का स्वरूप अन्तर्निहित होने पर भी उसके भाषण एवं उपदेश से योग्य विद्वान् पुरुष उसे जान लेते हैं। ज्ञानियों के सूक्ष्म और स्थूल लक्षण अनेक हैं। परन्तु साधारण मनुष्य नहीं जान सकते। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि ज्ञानी पुरुषों की तरह निरूपण करना, बोलना, आचरण करना और साधनों में प्रवृत्त रहना वञ्चक जन भी कर सकते हैं। अतः ज्ञानी का आभ्यन्तरिक तत्व समझना परम दुष्कर है। तथापि में कुछ लक्षण बता रहा हूँ।

आरम्भ में जिसका अन्तःकरण निर्मल नहीं रहता, वह ज्ञान के लिये कतिपय साधनों का अभ्यास करता है। ज्ञान होने पर अभ्यास की प्रवलता के कारण कभी कभी बिना प्रयत्न भी वह साधन स्थिर रह जाता है। जिसके स्वरूप को मानापमान, लाभ हानि, जय पराजय किञ्चित् भी परिवर्तन नहीं कर सकते, वह उत्तम ज्ञानी है। आत्मानुभव सम्वन्धी गूढ़ प्रश्नों का जो असन्दिग्ध अनुभवपूर्ण तत्काल उत्तर देता है वह उत्तम ज्ञानी है। ज्ञान विषयक चर्चा में जो अतिशय उत्साहवान् हो, निरूपण कार्य में जो अग्रगामी हो, वह सच्चा ज्ञानी है। स्वभावतः जिसका मन व्यवहारों से पराङ्मुख हो गया हो, जो परम सन्तोषीवृत्तिवान् हो, बड़े सङ्कटों में भी शान्त रहने वाला हो, वह उत्तम ज्ञानी है। साधक स्वयं अपनी परीक्षा करे, इसी हेतु ज्ञानियों के यह लक्षण बताये गये हैं। साधक को नित्य आत्म परीक्षा करनी चाहिये।

मनुष्य दूसरों के दोष निकालने में बढ़ा निपुण होता है। यदि वह उसी प्रकार अपने भी दोष खोजता रहे, तो उसे अवश्य ज्ञान प्राप्त हो जावे। यदि दूसरों की परीक्षा करना छोड़कर मनुष्य अपने अपने गुण, दोषों का विचार करने लगे, तो सब साधन प्राप्त कर वह सिद्ध पुरुष हो जावे। हे सूत! ज्ञानियों के यह लक्षण अपनी परीक्षा में उपयोगी है।

पुस्तकालय,
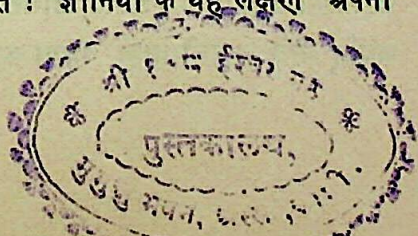
जिनकी बुद्धि जन्म से ही अत्यन्त शुद्ध है, उन्हें साधन के प्रारम्भ में ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है ऐसे व्यक्ति दीर्घकाल तक साधनों का अभ्यास नहीं करते। अतएव वे पूर्व वासनानुरोध से कार्य करते रहते हैं। ऐसे उत्तम ज्ञानियों को जो सर्व साधारण व्यवहार करते रहते हैं, ऊपरी लक्षणों से नहीं पहचाना जा सकता है। उनकी परीक्षा वे ही कर सकते हैं जो स्वयं ज्ञानी हैं। मन्द ज्ञानियों की देह स्थिति मूढ़ की भाँति होती है। उन्हें सहज समाधि नहीं प्राप्त होती। जब वे स्वरूपानुसन्धान में नहीं लगते हैं तब पूर्ण हो जाते हैं। परन्तु स्वरूपानुसन्धान त्याग कर जब देहभाव प्राप्त होता है, तब उन्हें सुख दुःखों का पूर्ण अनुभव होता है। वे पूर्ण दशा में शनैः शनैः पहुँचते हैं। स्वरूप सुख का अनुभव करने के कारण उनकी अनुसन्धानहीन दशा जली हुई रस्सी की भाँति बन्धन कारक नहीं है। वस्त्र के दोनों सीमाओं को एक बार लाक्षारस में रँग देने से उससे सम्पूर्ण वस्त्र व्याप्त हो जाता है और मध्य भाग भी पूर्णतः रँग जाता है। उसी प्रकार मन्द ज्ञानियों का भी व्यवहार पूर्वोत्तर कालीन स्वरूपानुसन्धान के कारण बन्धन कारक नहीं होता। मध्यम ज्ञनियों का देह से ही सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ देह के सम्बन्ध का अर्थ 'देह ही आत्मा है' इस भाव को समझना चाहिये। अतिशय अभ्यास के कारण उनका मन सदैव लीन रहता है। अतः देह संयोग का अनुभव नहीं होता। वे सदैव समाधि में रहते हैं। अतएव व्यवहार से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी शरीर यात्रा भी निद्रितावस्था सदृश होती है। जैसे मानव निद्रावस्था में वासनावस कुछ बोल उठता है परन्तु उसका सच्चा भान उसे नहीं होता। अथवा सुरापायी कुछ बोल जाता है पर समझता नहीं, तद्वत् ही सब लोक व्यवहारों से पृथक रहने वाले महायोगी कहीं भी कुछ कर डालते हैं, पर उनका ज्ञान नहीं रखते अर्थात् उन्हें अपनी वाह्य क्रिया का कुछ भी बोध नहीं रहता।

उनका देह निर्वाह प्रारब्ध के बल से होने वाले संस्कारों से होता है।

उत्तम ज्ञानियों को भी देहभाव नहीं रहता। वे रथ के सारथी की भाँति व्यवहार करते हैं। जैसे रथ का सारथी रथ के साथ व्यवहार करता है परन्तु स्वयं रथ नहीं हो जाता। तथैव उत्तम ज्ञानी, देह सम्वन्ध से व्यापार करते रहने पर भी स्वयं देह अथवा कर्मकर्ता नहीं होता। शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही रहता है। ज्ञानी आभ्यान्तरिक रूप से अत्यन्त निर्मल तथा स्वस्थ रहकर वाह्य व्यवहार करता रहता है। जैसे नाटक की नटी भीतर और बाहर दो भिन्न रूपों की होती है। वह खेल करके भी तदाकार नहीं होती। वैसे ही ज्ञानी संसार रङ्गमञ्च पर कीड़ा करता हुआ निर्लिप्त रहता है। जैसे बच्चों के साथ खेलने वाले प्रौढ़ पुरुष उस खेल के सुख दुःखों से युक्त हुये दिखाई पड़ते हैं, परन्तु यथार्थ में उससे रहित होते हैं, उसी प्रकार जगत्क्रीड़ा में तत्पर उत्तम ज्ञानी व्यवहार के समय अन्तःकरण से पूर्ण निर्मल रहते हैं।

मध्यम ज्ञानी समाधि के दृढ़ अभ्यास के कारण स्वस्थ रहते हैं और तत्व विचार के बल से शान्त रहते हैं। उत्तम और मध्यम का भेद बुद्धि की परिपक्वता के कारण होता है। हे सूत ! उस विषय में प्राचीनकाल में दो विद्वानों का तात्विक सम्वाद हुआ, उसे मैं सुनाता हूँ।

पर्वतीय देश में श्वेतकेतु नाम का एक राजा हुआ है। वह कालिन्दी नदी के किनारे पीयूष नामक नगर में रहता था। उसके दो लड़के थे, जिनके नाम विशुद्धबुद्धि और तर्कबुद्धि थे। वे बड़े उदार स्वभाव वाले तथा बुद्धिमान् थे। राजा को दोनों ही परम प्रिय थे। तर्कबुद्धि सर्वशास्त्रज्ञ तथा तर्कपटु था और विशुद्धबुद्धि उत्तम ज्ञानी तथा स्वरूप को जानने वाला था। वे दोनों एक बार ससैन्य आखेट के लिये सघन अरण्य में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अनेक

हिंसक पशुओं का संहार किया, मध्याह्न तक कठोर परिश्रम करने के कारण वे दोनों अत्यन्त श्रान्त हो चुके थे। अतः वह कोई विश्रामस्थल खोजने लगे। उन्हें अरण्य के मध्य में एक सुन्दर सरोवर प्राप्त हुआ। उसके किनारे पर सघन छाया वाला एक रमणीय वटवृक्ष था। उस वटवृक्ष के नीचे दोनों विश्राम करने लगे। उसी वृक्ष पर एक सर्वशास्त्रवेत्ता ब्रह्मराक्षस रहता था। वह राक्षस पण्डितों से विवाद करता और उन्हें जीत कर खा लिया करता था। इन दोनों राज पुत्रों को देखकर वह ब्रह्मराक्षस प्रत्यक्ष प्रकट हो गया और विवाद की इच्छा प्रकट की। तर्कबुद्धि को विवाद में बड़ी रुचि थी। वह उस राक्षस से तर्क करने लगा। इस अद्भुत घटना को देखकर विशुद्धबुद्धि आगे आया और बोला—राक्षस! ठहर, पहले मुझसे विवाद कर, मुझे जीतकर दोनों भाइयों को साथ ही साथ खाना। ब्रह्मराक्षस ने कहा—मुझे यह अहार बहुत कालान्तर में प्राप्त हुआ है। मैं बहुत भूखा हूँ। पहले इसे भक्षण करके पारण कर लूँ फिर तुझसे विवाद करके तुझे खाऊँगा। विशुद्धबुद्धि बोला—हे राक्षस! तू विद्वानों को ही क्यों खाता है? राक्षस बोला—महात्मा वसिष्ठ ने यह वरदान मुझे दिया है कि विवाद में जीतकर ही मनुष्यों को खाया कर। एक बार वसिष्ठ जी के शिष्य देवरात इधर से आये, मैंने उनका भक्षण किया। यह बात जान कर वसिष्ठ जी हमारे समीप आये और मुझे शाप दिया कि यदि तू किसी भी मनुष्य को खायेगा, तो तेरा मुख जल जायेगा। मैंने मुनि से बड़ी ही प्रार्थना की, तब उन्होंने दया करके यह वरदान दिया कि—"यदि तुम्हारे समीप कोई आवे तब तुम उससे विवाद करना, विवाद में जीतकर उसे खा सकते हो।" तब से मैं ऐसा ही करता हूँ। आज मुझे वहुत दिनों के उपरान्त ऐसा सुन्दर आहार प्राप्त हुआ है।

विशुद्धबुद्धि वोला—"हे रक्षास! कृपया मेरा यह लघु निवेदन सुनलो। यदि कुछ लेकर भी इस मेरे प्राणप्रिय भ्राता को

छोड़ सकते हो तो छोड़ दो इसके बदले में जो कुछ चाहो वह दे सकता हूँ।"

तब राक्षस राजपुत्र से कहने लगा—"राजन्! मैं इस आहार को किसी के बदले में त्याग नहीं सकता। समय पर प्राप्त आहार को त्याग देना मूर्खों का काम है। हाँ, यदि तू मेरे गूढ़ प्रश्नों का उत्तर दे सके तो मैं तुम्हारे भाई को छोड़ सकता हूँ।"

यह सुनकर विशुद्धबुद्धि बोला—"हे राक्षस! तू सभी प्रश्न पूँछ! मैं सभी प्रश्नों का अकाट्य एवं शास्त्र सम्मत उत्तर दूँगा।" राजपुत्र के कहने पर वह ब्रह्मराक्षस अनेक गूढ़ प्रश्न करने लगा।

श्री वेद व्यास जी कह रहे हैं कि हे सूत! ब्रह्मराक्षस के प्रश्न बड़े ही मार्मिक और तत्वपूर्ण थे। तू उसे ध्यान से सुन और मनन कर।

ब्रह्मराक्षस बोला—"हे राजपुत्र! तू यह बतला कि आकाश से भी विस्तृत और परमाणु से भी सूक्ष्म कौन है? उसका स्वरूप क्या है? और वह कहाँ है?"

ब्रह्मराक्षस! सुन—"चैतन्य आकाश से भी विस्तृत और परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है। उसका स्वरूप स्फुरण है और उसका स्थान आत्मा है।"

"राजपुत्र! एक ही चैतन्य अति विस्तृत होकर अति सूक्ष्म कैसे होता है? स्फुरण क्या है? आत्मा क्या है?"

ब्रह्मराक्षस! सुन, सबका कारण होने से चैतन्य विस्तृत है और आकलन (ग्रहण) करने में कठिन होने के कारण अति सूक्ष्म है। चैतन्य ही स्फुरण है और चैतन्य ही आत्मा है।

"राजपुत्र! वह चैतन्य किस स्थान में और कैसे मिलता है? इसके मिलने का क्या फल होता है?"

"ब्रह्मराक्षस! उसके मिलने का स्थान बुद्धि है और वह एकाग्रता से प्राप्त होता है उसके मिलने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।"

"राजपुत्र ! बुद्धि किसे कहते हैं ? एकाग्रता क्या है ? जन्म किसे कहते हैं ?"

"ब्रह्मराक्षस ! सुन, अविद्या के आवरण संयुक्त चैतन्य को बुद्धि कहते हैं। आत्मा की ओर अभिमुख होना एकाग्रता है। देह में आत्मा की भावना जन्म हैं।"

"हे राजपुत्र ! चैतन्य किस कारण से प्राप्त नहीं होता ? वह किस साधन से प्राप्त होता है ? जन्म किस कारण से होता है ?"

"ब्रह्मराक्षस ! सुन, अविवेक के कारण चैतन्य उपलब्ध नहीं होता वह स्वरूप से प्राप्त होता है। वासनोंसे कर्तृत्वाभिमान रहने के कारण जन्म होता है।"

"राजन् ! यह अविवेक क्या है ? स्वरूप क्या वस्तु है ? कर्तृत्व का अभिमान कैसे होता है।"

"राक्षस ? देहादिकों से आत्मा को अभिन्न समझना अविवेक है। स्वस्वरूप कौन है ? इसका विचार तू स्वयँ कर, स्वस्वरूप अनुभव से ज्ञात होता है "मैं कर्ता हूँ" यह भावना ही कर्तृत्व का अभिमान् है।"

"हे राजपुत्र ! अविवेक कैसे नष्ट होता है। उसका मूल क्या है ? उस मूल का क्या कारण है ?"

"राक्षस ! विचार से अविवेक नष्ट होता है। विचार का मूल वैराग्य है दोष दृष्टि वैराग्य का कारण है।"

"राजपुत्र ! विचार क्या है ? वैराग्य किसे कहते हैं ? दोष दृष्टि क्या वस्तु है ?"

"ब्रह्मराक्षस ! दृष्टा और दृश्य की परीक्षा करना विचार है। दृश्य पर आसक्ति न होना वैराग्य है। दृश्य को दुख कारक समझते रहना दोषदृष्टि है।"

"हे राजन् ! यह सब साध्य कैसे होगा ?" और यह कैसे मिलेंगे। इनका भी मूल कारण क्या है ?"

"ब्रह्मराक्षस ! सुन, यह सब ईश्वर की कृपा से साध्य होते हैं। यह कृपा भक्ति से होती है। भक्ति का मूल कारण सत्सङ्ग है।"

"राजपुत्र ! ईश्वर किसे कहते हैं ? भक्ति किसे कहते हैं ? सन्त कैसे होते हैं ?"

"हे राक्षस ! संसार को जो धारण करता है, वह परमेश्वर है। उस पर मन लगाना भक्ति है। सन्त अकारण करुण शान्त और दयालु होते हैं।"

"राजपुत्र ! संसार में सदैव रहने वाला कौन है ? सदा दुःखी कौन है ?" सदैव दीन कौन है ?"

"हे ब्रह्मराक्षस ! अत्यन्त धनवान् सदा भयभीत रहता है। जिसका कुटुम्ब अधिक हो, वह सदा दुःखी रहता है। आशा से ग्रस्त मनुष्य सदा दीन रहता है।"

"राजपुत्र ! निर्भय कौन है ? दुःख रहित कौन है ? ऐसा कौन है जिसे दीनता न हो ?"

"हे ब्रह्मराक्षस ! सुन, जिसका किसी से सम्बन्ध नहीं है वह निर्भय है। मन को जीतनेवाला दुःख रहित है। आत्म ज्ञानी में दीनता नहीं होती।"

"राजन् ! वह कौन है, जिसका लक्षण नहीं बतलाया जा सकता ? शरीर रहित कौन है ? निष्क्रिय की क्रिया क्या है ?"

"ब्रह्म राक्षस ! सुन, जीवन मुक्त का लक्षण नहीं बतलाया जा सकता। वह देही होकर भी देह रहित होता है। और उसके कर्म ही निष्क्रिय पुरुषों के कर्म कहाते हैं।"

"राजपुत्र ! वह कौन सी वस्तु है, जो संसार में है, और नहीं है ? अत्यन्त असम्भव क्या है ? बस, इतना बतलादे फिर तेरे भाई को छोड़े देता हूँ।

ब्रह्मराक्षस। जो वस्तु है और नहीं है, वह वस्तु दृक् है। दृश्य व्यवहारों की सत्यता अत्यन्त असम्भव है। मैंने बतला दिया, अब

मेरे भाई को छोड़ दे। इन अचूक उत्तरों से ब्रह्मराक्षस सन्तुष्ट हो गया। उसने अन्त में तर्क बुद्धि को छोड़ दिया। और वह राक्षस तुरन्त ही ब्राह्मण रूप हो गया। उसे तेजस्वी ऋषि के सदृश सामने खड़ा देखकर राजपुत्रों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—हे ब्राह्मण! तू कौन है ? ब्रह्मराक्षस का रूप तूने क्यों धारण किया था। तब उस ब्राह्मण श्रेष्ठ ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। वह कहने लगा…

पहले मैं मगध देश का वसु नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण था। मैं सब शास्त्रों में निपुण और विख्यात था। मैंने अपनी विद्वता के बल से कई बार सैकड़ों विद्वानों को जीता। अतः मुझे बड़ा गर्व हो गया। इसके अनन्तर एक बार मगध राजा की सभा में जाकर आत्मविद्या के सम्बन्ध में "अष्टक" मुनि से विवाद करने लगा। वह आत्म स्वरूप को जानने वाला पूर्ण शान्त था। और मैं शुष्क तर्कवादी था। अतएव वेद के स्वरूप अर्थ से भरे हुए उसके सुन्दर भाषण को भी अपनी तर्क कुशलता से मैंने दोषपूर्ण बतला दिया और छल से उसे धिक्कारता था। तब भी वह महात्मा उस राज सभा में बिल्कुल शान्त स्वरूप रहा। परन्तु उसके शिष्य कश्यप को यह सहन नहीं हुआ। क्रोध में आकर मुझे वहीं शाप दे दिया। वह कहने लगा—दुष्ट ! तूने मेरे गुरु का अपमान किया है। तेरा ऐसा अधिकार न था। अरे अधम ! तू दीर्घ काल के लिये ब्रह्मराक्षस हो जा। शाप से भयभीत होकर "अष्टक" मुनि की शरण में पड़ गया और अनेक प्रार्थनायें कीं। उस शान्त महात्मा ने विरोध भूल कर मुझ पर दया की। उसने शाप से मुक्त होने का उपाय बतलाया। वह मुनि कहने लगा—"अरे ब्राह्मण ! इस सभा में जो तूने प्रश्न किये हैं उनका मैंने यथायोग्य उत्तर दिया है। तो भी तूने तर्क के बल पर मेरे उत्तरों को खण्डित करके प्रश्नों को स्थापित रखा। अतएव जब कोई विद्वान् तेरे प्रश्नों का तुझे उचित उत्तर देगा तब तू शाप से मुक्त होगा। वही मैं हूँ।"
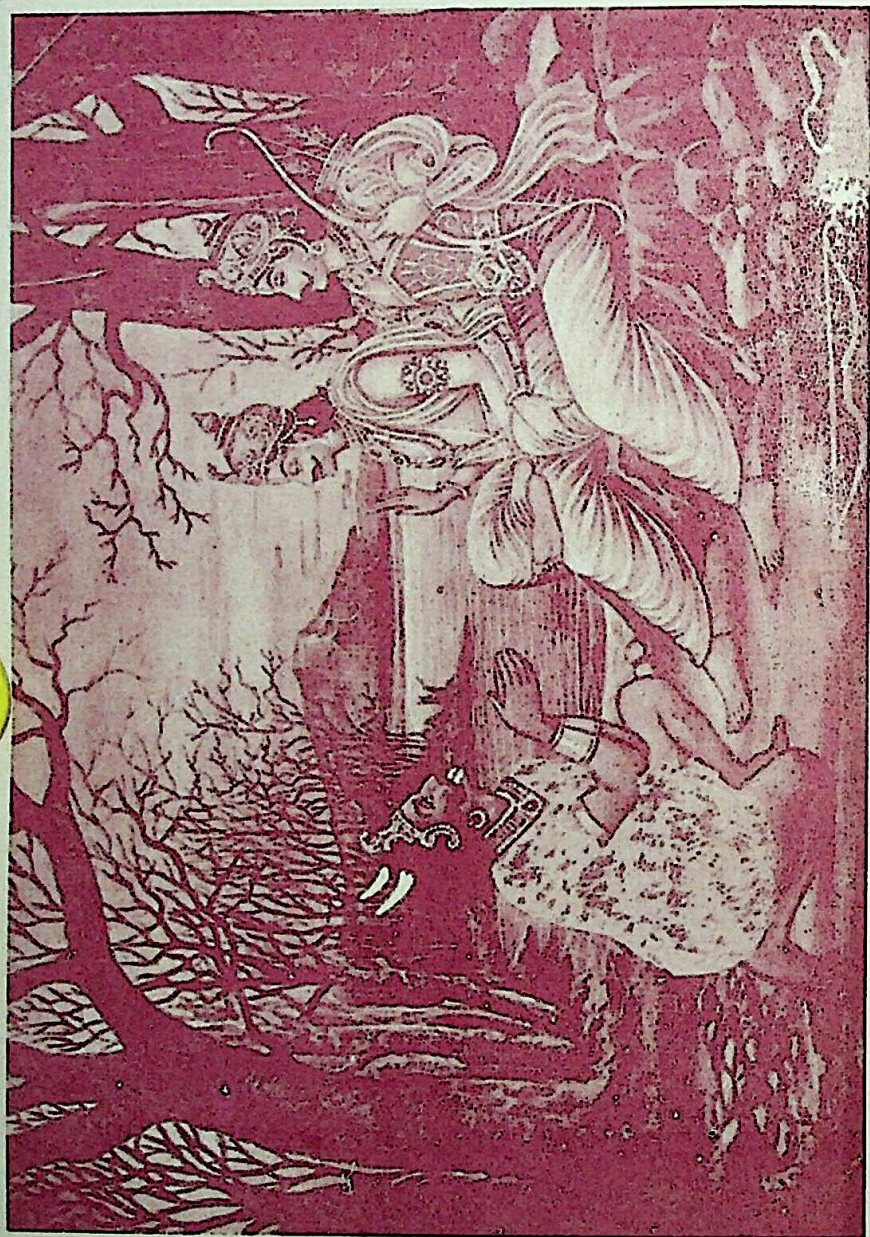
❀ विशुद्धबुद्धि के उत्तरों से सन्तुष्टराक्षस ❀

राजपुत्र ! सारांश यह है कि तेरी सङ्गति से मैं आज शाप से मुक्त हुआ हूँ। इसीलिये मैं समझता हूँ कि सब लोगों में तू उत्तम आत्मज्ञानी महात्मा है। राक्षस के इस हाल को सुनकर विशुद्धबुद्धि को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर उस वसुमान ब्राह्मण ने राजा से अनेक प्रश्न किये। राजा ने उत्तम रीति से उनका उत्तर दिया। उसके सब सन्देह नष्ट हो गये।

श्री वेदव्यास कहते हैं कि सूत ! फिर राजपुत्र विशुद्धबुद्धि उस ब्राह्मण को प्रणाम कर अपने भाई और सेना सहित अपने नगर को वापिस आ गया।
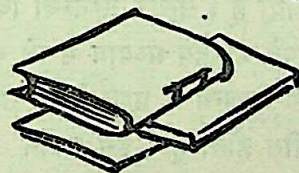
चतुर्दशोऽध्यायः

गुहा में ब्रह्माण्ड दर्शन

विलोकितं तत्र विचित्र लोकम् ।
प्रविश्य राज्ञा तु गिरेर्गुहायाम् ।।
पुनस्तदागत्य विलोक्य सृष्टिम् ।
पप्रच्छ मर्माणि मुनिं महीपः ।।१४।।

श्री वेदव्यास जी के इस तात्विक भाषण को सुनकर सूत जी का रोम रोम पुलकित हो गया। वह बोला—भगवन्! आपने बड़ा रोचक उपाख्यान सुनाया है। संसार सम्बन्धी विवेचन आपका बड़ा ही महत्वपूर्ण है। आपने बारहवें अध्याय में जो संसार को चैतन्यमय सिद्ध किया है। उसके सम्बन्ध में प्रश्न है कि संसार चैतन्यमय होने पर भी ऐसा क्यों प्रतीत होता है? इसे आपने असत्य बताया है, परन्तु यह सत्य ही प्रतीत होता है। अब आप समझाइये कि हम सब सत्य वस्तु को क्यों नहीं देख पाते? असत्य में सत्य की भावना क्यों दृढ़ है?

इस प्रश्न को सुनकर श्री वेदव्यास जी कहने लगे—हे सूत! सुन मैं इस भ्रम का मूल कारण बताता हूँ। यह बड़ा ही पुरातन भ्रम है कि सत्य वस्तु को यथावत् न ग्रहण कर उसे कुछ अन्य ही समझ लेना और उसमें दृढ़ भावना कर लेना। विचार करो जीव अपने शुद्ध स्वरूप को विस्मरण कर शरीर को ही मैं कहने लगता है। परन्तु यथार्थतः देखने पर माँस रक्तमय शरीर कहाँ? और निर्मल

चिदात्मा कहाँ ? केवल शरीर में दृढ़ भावना कर लेने के कारण ही आत्मा शरीर रूप हो जाता है। यहाँ तक कि आत्मा को केवल चैतन्य रूप मानने पर भी पुनः पुनः शरीर भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार केवल दृढ़ भावना के कारण ही संसार सत्य प्रतीत होता है। इसके विपरीत संसार के मिथ्या होने की भावना जब जाग्रत की जाती है। तब वह भ्रम निवृत्त हो जाता है। जो जैसी भावना करता है उसे संसार वैसा ही प्रतीत होता है। मैं तुझे इस विषय में एक सुन्दर उपाख्यान सुनाता हूँ।

हिमालय के पवित्र पर्वतीय प्रदेश में परम रमणीय धनधान्य वैभवपूर्ण एक सुन्दर नगर था। वहाँ प्राचीनकाल में जगजीवन नाम का एक प्रख्यात राजा रहता था। वह बड़ा बुद्धिमान् एवं पराक्रमशाली था। उसका लघु भ्राता उमारमण भी उसकी भाँति चतुर और बलवान् था। राजा जगजीवन ने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ पूर्ण होने के लिये अश्व छोड़ा गया। अश्व के साथ उसकी रक्षा के लिये उसका पराक्रमी पुत्र समरेन्द्र सेना सहित चल पड़ा। मार्ग में अश्व जिन लोगों द्वारा अवरुद्ध किया गया, वे राजपुत्र समरेन्द्र द्वारा पराजित हुये। इस प्रकार वह अश्व घूमता हुआ ताप्ती नदी के किनारे आया। वहाँ राजपुत्र समरेन्द्र को तपोनिधि राजर्षि देवल का दर्शन हुआ।

योगीराज देवल सिद्धासनस्थ समाधि में स्थित थे। उनके तपोतेज से सम्पूर्ण अरण्यस्थली प्रदीप्त हो रही थी। राजपुत्र समरेन्द्र तो अपने पराक्रम और विजय के गर्व से मदमत्त था। उसने मुनिवर देवल का कुछ भी ध्यान नहीं दिया। न तो जाकर प्रणाम ही किया और न आदर बुद्धि से उनका माहात्म्य पूँछा, और न कोई भेंट की। देवल के पुत्र ने देखा कि इस राजपुत्र ने मेरे पिता का अपमान किया है। मुनि पुत्र को क्रोध आ गया। उसने अश्व ले लिया और राजपुत्र की कठोर निर्भर्त्सना की। राजपुत्र समरेन्द्र ने सेना द्वारा

मुनिपुत्र पर आक्रमण किया। परन्तु मुनि पुत्र अश्व को लेकर पर्वतीय गुहा में प्रविष्ट हो गया। राजकुमार को बड़ा क्रोध आया। उसने शस्त्रों की भयङ्कर वर्षा की जिससे वह पहाड़ी नष्ट भ्रष्ट हो गई। पहाड़ी टूटते ही वह मुनि पुत्र सेना लेकर बाहर आगया, और राजपुत्र पर बड़े वेग से आक्रमण किया। कुछ समय तक तुमुल युद्ध होता रहा। अन्त में राजकुमार की सेना विध्वंस हो गई, वह पराजित हो गया। मुनि पुत्र ने समरेन्द्र को पाश में बाँध लिया। और गुहा में लेजाकर बन्द कर दिया। राजकुमार की शेष सेना भाग गई, उसने जाकर राजा जगजीवन को खबर सुनाई।

राजा जगजीवन बड़ा ही तत्ववेत्ता और भगवद्भक्त था। उसने अपने भाई उमारमण से कहा—"तात्! तुम जाओ और मुनिवर की प्रार्थना करके अश्व और राजकुमार समरेन्द्र को ले आओ।" उमारमण ने कहा—"भ्रातृवर! मैं शीघ्र ही जिस प्रकार भी होगा अश्व को लाकर आपका यज्ञ पूरा कराऊँगा।"

जगजीवन ने कहा—"देवल ऋषि से क्रोध मत करना। तपस्वियों का सामर्थ्य अपार है। विनय करने से वे दयालु हो जाते हैं। वसन्तकाल आ गया है यही उत्तम समय है। अतः शीघ्र ही अश्व को ले आओ।"

राजा की आज्ञा से उमारमण देवल ऋषि के आश्रम में पहुँचा। मुनि समाधिस्थ थे, उनका शरीर काष्ठवत् था। मन, इन्द्रियाँ शान्त थीं। उनका अहम्भाव निर्विकल्प दशा के अपार समुद्र में लीन हो रहा था। मुनि के चतुर्दिक् शान्ति का सागर सा उमड़ रहा था। उमारमण ने मुनिवर देवल को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति करते करते उमारमण को तीन दिन बीत गये परन्तु देवल ऋषि यथा पूर्व स्थित रहे किञ्चित् भी नहीं हिले डुले। तीन दिन स्तुति करने पर देवल का

पुत्र गुहा से बाहर निकल आया और उमारमण से बोला—"हे राजन् ! तेरी इस स्तुति से मुझे परम प्रसन्नता हुई। मैं सन्तुष्ट हूँ। तेरा क्या मनोरथ है। मैं उसे पूरा करूँगा। मैं उन्हीं महामुनि का पुत्र हूँ। अभी हमारे पिता का बोलने का समय नहीं है। उन्होंने १२ वर्षों की समाधि लगाई है। ५ वर्ष बीत गये और ७ वर्ष अभी शेष हैं। यह सब बातें मेरे पिता ने मुझे पहले ही बतला दी थीं। तुम्हें हम लोगों से क्या चाहिये। मैं तुम्हारा मनोरथ पूरा कर सकता हूँ। मुझे छोटा लड़का मत जानो। मैं अपने पिता के ही बराबर तपस्वी हूँ। संसार में तपस्वियों को कुछ भी असम्भव नहीं होता।"

इस भाषण को सुनकर उमारमण ने मुनि पुत्र को प्रणाम किया और कहने लगा—"मुनि पुत्र ! मेरी तो यही इच्छा है कि तुम्हारे पिता समाधि से जाग्रत हो जावें और उनसे मेरी बात चीत हो। यदि सचमुच कृपा करें तो मेरी इच्छा पूर्ण हो। राजा के इस बचन को सुन कर मुनि पुत्र कहने लगा कि तेरी इस इच्छा का पूर्ण होना बिल्कुल असम्भव है। परन्तु मैंने तुझे एक बार तेरी बात पूरी करने का विश्वास दिया है। अतः अब मैं "नहीं" नहीं कर सकता। तू कुछ देर ठहर और योग मार्ग के मेरे अद्भुत सामर्थ्य को देख। मेरे पिता अभी परम पावन पद में विश्रान्ति ले रहे हैं। उन्हें वाह्य प्रयत्नों से कोई जाग्रत नहीं कर सकता। मैं सूक्ष्म योग मार्ग से जाकर उन्हें सावधान करता हूँ, देख ! ऐसा कहकर उसने वहाँ आसन जमाया और इन्द्रियों का पूर्णतया निरोध किया। प्राण वायु में अपान वायु का संयोग करके वह मुख्य प्राण के द्वारा बाहर आया। और अपने पिता के शरीर में घुस गया। अनन्तर अपने पिता के तल्लीन मन को सावधान कर वह तुरन्त अपने शरीर में वापस आ गया इतने में वह मुनि जाग्रत हो गया। सामने राजा बड़ी नम्रता से स्तुति कर रहा है। उसे योग दृष्टि से राजा का

मनोरथ मालूम हो गया। उसकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर मुनिराज अपने पुत्र से कहने लगे—बेटा! ऐसा फिर मत करना। क्रोध तप का घातक है। जब राजा हम लोगों की रक्षा करता है, सुव्यवस्था रखता है, तभी तपस्या निर्विघ्नता से सिद्ध हो सकती है। इसलिये राजा के कार्य में विघ्न डालना ठीक नहीं। यह दैत्यों का स्वभाव है। मुनियों का धर्म नहीं। अतएव राग, द्वेष छोड़ कर घोड़े और राजपुत्र को इन्हें शीघ्र दे दो। इन्हें शीघ्र जाने दो। नहीं तो यज्ञ का समय बीत जावेगा। पिता के वचनों से मुनिपुत्र का क्रोध शान्त हो गया। गुहा में जाकर उसने तुरन्त ही राजपुत्र और घोड़े को जाकर उमारमण को सौंप दिया। उमारमण ने उन दोनों को घर की ओर भेज दिया। तदनन्तर वह आश्चर्य भाव से मुनि को प्रणाम कर कहने लगा—भगवन्! इस पर्वत के गर्भ में मेरा भतीजा और घोड़ा कैसे रहा? मैं इस बात को जानना चाहता हूँ। कृपया मुझे बताइये।

इस प्रकार पूछने पर देवल मुनि कहने लगे—राजन्! सुनो। पहले मैं राजा था। अनेक वर्षों तक मैंने विस्तृत राज्य चलाया। मुझे एक समय तुर्यात्मक ईश्वर चित् स्वरूप का ज्ञान हो गया। अतएव मुझे सब लोक व्यवहार तुच्छ मालूम होने लगा। मैंने राज्य लड़कों को सौंपकर वन का आश्रय लिया। मेरी स्त्री भी साथ में आ गई। तब से तपस्या करते अर्बुद सम्वत्सर बीत गये। मेरी सेवा करके मेरी स्त्री भी पूर्ण स्थिति में पहुँच गई। आगे चलकर एक भविष्यकालीन नियति के अचिन्त्य प्रभाव के कारण मेरी स्त्री को समाधि की अवस्था में कामेच्छा उत्पन्न हो गई। वह कामाकुल होकर मेरे पास आई। तदनन्तर मुझसे वह गर्भवती हो गई। समय पर यह पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही उसे मेरी गोद में रख दिया। यह सब बात समाधि अवस्था में हुई। जब मैंने देखा कि बालक मेरी गोद में बैठा है और स्त्री परमपद में लीन हो गई, तब मुझे लड़के पर दया आई। मैंने उसका पालन पोषण

किया। एक बार प्रसङ्गवश जब लड़के ने सुना कि मैंने राज्य भी चलाया है, तब उसे भी राज्य चलाने की इच्छा हुई। उसने मुझसे प्रार्थना की, और तदनन्तर उसने मेरे आदेश से उत्कृष्ट योगसिद्धि प्राप्त की। अब इसने केवल भावना बल से जगत् निर्माण कर लिया है और वहाँ सब प्रदेशों का राज्य कार्य करता है। उसी राज्य प्रदेश में घोड़े और राजकुमार को बन्धन में रक्खा था। उस भाषण को सुनकर उमारमण कहने लगा, यह बड़ा आश्चर्य है।

भगवन् मेरी इच्छा उस स्थान को देखने की है। कृपा कर दिखला दीजिये। इस प्रार्थना को सुनकर मुनि ने अपने पुत्र से कहा कि राजा को अपना राज्य विस्तार दिखला दे। इतना कहकर मुनि तो समाधिमग्न हो गये और उनका पुत्र राजा को लेकर पहाड़ की गुहा में गया। और वह स्वयं भीतर जाने लगा। परन्तु राजा से भीतर जाते न बन पड़ा, उसने मुनि पुत्र को पुकारा। मुनि पुत्र उसे भीतर से बुलाने लगा। परन्तु जब उसने देखा राजा को भीतर आते नहीं बनता, तब स्वयं बाहर आकर वह कहने लगा—राजा सच है तू योगाभ्यासी नहीं है। अतएव तेरा भीतर घुसना असम्भव है। योग ज्ञान के बिना यह पहाड़ी प्रत्येक के लिए घनरूप तथा स्थूलरूप ही है। परन्तु मुझे तो पिता जी की आज्ञा का पालन करना है। अतः तुझे भीतर लेजाना होगा। तू अपने शरीर को घास राशि में रख दे और केवल सूक्ष्म देह से भीतर चल। इसे सुनकर राजा बोला—मुनि पुत्र! मुझे देह से बाहर निकलने का सामर्थ्य नहीं है। शरीर का त्याग कैसे हो सकता है? शरीर को अलग रख देना क्या मरना नहीं है।

मुनि पुत्र हँसते हुये कहने लगा—अरे! इसे योग का ज्ञान नहीं है। अस्तु, तुम आँखें बन्द करों। उसके आँखें बन्द करने से योग शक्ति द्वारा राजा के शरीर में घुस गया। उसके सूक्ष्म शरीर को बाहर निकालकर स्थूल शरीर को गड्ढे में रख दिया।

उस लिङ्ग शरीर के साथ उसने गुहा में प्रवेश किया। उस समय राजा सावधान न था। मुनि पुत्र ने तुरन्त एक दूसरा शरीर बनाया और उसे उस शरीर में प्रवेश कराके जाग्रत किया। जागने पर उसने देखा कि मुनि पुत्र मुझे लेकर आकाश में तेजी से चला जाता है। आसपास और ऊपर नीचे मर्यादा रहित भयङ्कर आकाश को देखकर यह भयभीत होकर बोला-मुनि—पुत्र ! मैं यहाँ कहाँ हूँ ? मुझे यहाँ छोड़ मत देना। अन्यथा गिरकर चकनाचूर हो जाऊँगा। राजा को घबड़ाया हुआ देख कर मुनि पुत्र मुस्कराहट के साथ कहने लगा—राजन् ! डरो मत, मैं तुझे नहीं छोड़ूँगा। धैर्य रख और गुहा में निर्माण किये हुए इस सारे प्रदेश को देख। राजा धैर्य से देखने लगा। उसे दूर का आकाश दिखाई दिया। वहाँ नक्षत्र विराजमान् थे। वहाँ से आगे जाते जाते उसे चन्द्र मण्डल मिला। वहाँ ठण्ड से वह अकड़ गया। परन्तु मुनि पुत्र ने उसकी रक्षा की। आगे सूर्य मण्डल मिला उसकी उष्णता से वह जलने लगा वहाँ भी मुनि पुत्र ने योग से रक्षा की। कुछ समय में वे दोनों मेरु शिखर पर उतरे। राजा वहाँ सब बातें देखने लगा। दूर की वस्तु देखने के लिये मुनि पुत्र ने उसे सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि दी। इस दृष्टि की सहायता से लोका-लोक पर्वत की फैली हुई पङ्क्ति को देखा। उसके आगे घोर अन्धकार था। फिर स्वर्ण भूमि थी। अनेक समुद्र, नदियाँ, पर्वतों से भरे हुये सप्त द्वीप, सप्त भुवन, इन्द्रादि देवता, दैत्य, मनुष्य, राक्षस, किन्नर, यक्ष आदि सभी उस राजा को दिखाई पड़े। वहाँ सत्य लोक बैकुण्ठ कैलाश आदि स्थान थे मुनि पुत्र स्वयं विष्णु, महेश, ब्रह्मा आदि रूपों से वहाँ निवास करता वहाँ राजा ने मुनि पुत्र को सार्वभौम शासन करते हुये देखा। मुनिपुत्र के इस अद्भुत योग सामर्थ्य को देखकर राजा चकित हो गया। फिर मुनि पुत्र उससे कहने लगा—क्या तुम्हें मालूम है न। इस नूतन स्थान को देखते देखते कितने वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यहाँ अभी एक ही दिन हुआ है। परन्तु १२ अर्बुद वर्ष व्यतीत हो

चुके हैं। चलो अब अपने भूप्रदेश पर जावें। जहाँ मेरे पिता हैं, वहाँ जाकर देखें। ऐसा कहकर राजा को साथ ले मुनि पुत्र वहाँ से आकाश में उड़ान भरी और दोनों पहले की तरह बाहर आगये।

पञ्चदशोऽध्यायः

मन का संसार

यथैव चित्तेन सुचिन्तितेन ।
प्रबुध्यते चेतसि स्वप्नजालम् ॥
तथैव विश्वं चिति भासमानम् ।
स्वप्नं हि विश्वं विबुधा वदन्ति ॥ १५ ॥

गुहा से बाहर निकलते समय राजा को निद्रित कर और उसके लिङ्ग शरीर को साथ लेकर मुनि पुत्र बाहर आया और उसने उसके सूक्ष्म शरीर को उसके पूर्व शरीर में प्रविष्ट करा दिया । फिर राजा सावधान हो गया । जाग्रत होने पर उमारमण ने वाह्यभू प्रदेश वहाँ की भूमि, झाड़, मनुष्य, नदी, तालाब आदि सब बातें बिल्कुल नई दिखाई पड़ीं । वह आश्चर्य से मुनि पुत्र से कहने लगा— महात्मन् ! आपने मुझे यह कौन सा प्रदेश दिखलाया है ? पहले देखा उससे तो यह भिन्न है । यह क्या चमत्कार है ? मुनि पुत्र कहने लगा कि यह वही प्रदेश है, जहाँ हम पहले रहते थे । दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के कारण उसका स्वरूप बदल गया है । पहाड़ी गुहा के प्रदेश में जब आपने एक दिन बिताया, तब यहाँ पर १२ अर्वुद वर्ष बीत गये । यहाँ की जलवायु, आचरण, पद्धति, भाषा में परिवर्तन हो गया है । समय की गति से लोक स्थिती ऐसी ही बदलती रहती है । देखो, मेरे सामर्थ्यवान् पिता यहाँ समाधि लगाये बैठे हैं। तूनेपहले इसी स्थान में पिता की स्तुति की थी । देखो, वह यही पहाड़ी

है। मैंने तुझे अपनी भिन्न सृष्टि उसी में दिखलाई है। इस समय तेरे भाई के वंश में हजारों पीढ़ियाँ हो गई है। हिमाञ्चल प्रदेश में जो सुन्दर नगर था, वहाँ आजकल जानवरों से भरा जङ्गल है। तुम्हारे भाई के वंश में आज वीरभुजा नामक राजा है। वह मालव देश में क्षिप्रा नदी के किनारे 'विशाल' नामक नगर में राज्य कर रहा है। तेरेवंश में सुशर्मा नामक राजा 'द्रविड़' में राज्य कर रहा है। "ताम्र-पर्णी" नदी के किनारे 'वर्धन' नामक नगर उसकी राजधानी है। इस प्रकार संसार स्थिति में सदैव परिवर्तन होता है। थोड़े ही समय में यह जगत नूतन ही बन गया है। भविष्य में भी इसी तरह कुछ समय बीत जाने पर यह पर्वत नदियाँ, तालाब और भूमण्डल सभी बदल जावेंगे। संसार का यह नियम है। कालगति से पर्वतों के स्थान पर समुद्र और समुद्र के स्थान पर पर्वत उत्पन्न हो जाते हैं। शुष्क और निर्जल प्रदेश प्राणियों से भर जाते हैं। पत्थर के समान कठोरभूमि भी उर्वरा बन जाती है। और उर्वरा भूमि मरु-स्थल बन जाती है। खारा पानी मीठा और मीठा खारा हो जाता है। कहीं मनुष्यों की आबादी, कहीं पशुओं की संख्या, कहीं कीटा-णुओं का समूह बढ़ता है। इस तरह से समय पाकर इस संसार में भिन्न भिन्न परिणाम होते हैं। इसलिये तू इस बात को ठीक ठीक याद रख कि हमारे पहले वाले प्रदेश का यह स्वरूप बन गया है। मुनिपुत्र के इस भाषण को सुनकर राजा उमारमण शोकाकुल हो गया। उसे मूर्छा आगयी और पृथ्वी पर गिर पड़ा। धीरज देने पर वह सचेत हुआ। सचेत होते हुये अतिशय दुःखी होकर दीन मनुष्यों की भाँति विलाप करने लगा। अपने भाई, उसके लड़के, अपनी स्त्री आदि का स्मरण करके वह शोक में डूब गया। उसे मोहवश शोक ग्रस्त देखकर मुनि पुत्र समझाने लगा--राजन्! तू बुद्धिमान् है। फिर तू किसके लिए क्या समझकर रोता है। उत्तम पुरुष निष्फल कर्म कभी नहीं करते। जो फल का विचार किये बिना

कुछ उद्योग आरम्भ करता है, वह मूर्ख है। अतएव तू मुझे यह बतला—कि किसके लिये क्यों शोक करता है ?

इस प्रश्न को सुनकर उमारमण बड़े दुःख के साथ कहने लगा–मुने ! क्या तुम्हें शोक का कारण नहीं दीखता ? सर्वस्व डूब जाने पर तुम कारण पूछ रहे हो। किसी एक रिश्तेदार के ही वियोग में मनुष्य को बहुत बड़ा दुःख होता है और तुम मेरा सर्वस्व नाश हो जाने पर भी कारण पूछते हो। तुमसे क्या कहूँ।

मुनि पुत्र को हँसी आ गई, वह कहने लगा—राजन् ! क्या यह तेरा कुल धर्म ही है ? मैं तो नहीं जानता, यदि ऐसा हो तो शोक करना ठीक ही है। नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। क्या तेरी यह समझ है ? जो कुछ चला गया, वह शोक करने से फिर मिल जावेगा। धैर्य रख कर विचार करो कि दुःख करने से अब क्या लाभ है ? यदि तू यह समझ कर शोक करता है कि मेरे स्वजन नष्ट हो गये हैं, तो तेरे पूर्वज आदि तो कबके नष्ट हो चुके हैं। उनके बदले तुझे सर्वदा शोक करते रहना चाहिये था। परन्तु यह कैसी बात है कि इस समय के पहले तो तू शोक नहीं करता था। यह भी बतला कि वे किसके भाई थे ? क्या तेरे थे ? उनसे तेरी बन्धुता कैसे हुई ? यदि तू कहे कि तेरे और उनके माँ बाप एक ही थे, तो माता-पिता की विष्ठा में जो कीड़े रहते हैं, वह भी तो देह सम्बन्धी रहते हैं। तो फिर क्या वह तेरे भाई नहीं थे। तू उनके लिये शोक नहीं करता है। राजन् ! पहले तू इस बात का विचार कर कि तू स्वयं यथार्थ में कौन है ? और जिन्हें नष्ट समझकर शोक कर रहा है वह कौन हैं। क्या तू शरीर ही है अथवा उससे कुछ भिन्न है। शरीर जड़ पदार्थों का समुदाय है। सब समुदाय के अथवा उसके किसी अङ्ग के नाश को ही नाश कहते हैं। फिर देह के अंशों का नाश प्रत्येक क्षण में हो रहा है। मल, मूत्र, कफ, नख, वाल आदि का लगातार नाश हो रहा है। अतएव तुझे सदैव रोते

ही रहना चाहिये यदि शरीर के सर्वाङ्ग को नाश कहें और इसीलिए दुःख करें तो सर्वात्मना शरीर का कभी नाश नहीं होता। यह सच है कि तेरे भाइयों के शरीरों का अँश पृथ्वी आदि पदार्थों के रूप में है। यदि कहा जावे उनका भी नाश हो जाता है, तो अन्त में आकाश और अविनाशी शुद्ध रह ही जाता है। परन्तु इन बातों को छोड़ दे। मुख्य बात यह है कि तू देह नहीं है, देही है। क्योंकि तू जैसे कहता है कि यह मेरा कपड़ा है, वैसे ही यह मेरा शरीर है ऐसा अनुभव कर फिर बतला—कि तू देह ही कैसे हो सकता है? जब तू देह से भिन्न है तो दूसरे की देह से तुझे क्या सम्बन्ध है। जैसे तेरे भाइयों के कपड़े से तेरा थोड़ा भी सम्वन्ध नहीं है वैसे ही उनकी देह से भी नहीं है। जैसे वस्त्र हैं, वैसे ही शरीर हैं। फिर उन शरीरों के नष्ट हो जाने पर तुझे शोक क्यों करना चाहिए मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा प्राण, इत्यादि कहलाने वाला तू स्वयं किस स्वरूप का है?

मुनिपुत्र की यह बातें सुनकर उमारमण कुछ देर तक विचार करने लगा। परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर न मिलने के कारण अन्त में वह दीनता से कहने लगा।

भगवन् यह मुझे बिल्कुल नहीं मालूम है कि मैं कौन हूँ? सचमुच मैं शोक कर रहा हूँ, परन्तु मुझे उसका कारण नहीं मालुम होता है। मैं अज्ञानी हूँ। आपकी शरण में हूँ। अतएव बतलाइये कि इसमें गूढ़ बात क्या है। किसी भी नातेदार के मरने पर सभी आदमी शोक करते हैं। "वह स्वयं कौन है?" इस बात को नहीं जानते, परन्तु केवल शोक किया करते हैं। भगवन्! आपका मैं शिष्य हूँ। आप मुझे इन बातों को स्पष्टरीति से समझाइये। इसे सुनकर मुनिपुत्र कहने लगा—राजा सुन! माया के कारण सब लोग मूढ़ हो गये हैं। वह अपने स्वरूप को पहचाने बिना शोक किया करते हैं। जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, तब तक

वह दुःख पाता है, परन्तु उसे जान लेने पर वह कभी दुःखी नहीं हो सकता। लोग नींद में मोहबस होकर अपने को भूल कर जैसे दुःखी होने लगते हैं अथवा कोई इन्द्रजाल विद्या के बनाये हुए साँप के भय से डरते हैं, उसी तरह माया से व्याकुल होकर मनुष्य व्यर्थ दुःख पाता है। परन्तु स्वप्न से जाग्रत होने पर अथवा इन्द्रजाल विद्या का स्वरूप समझ लेने पर जैसे वह नहीं डरता और दूसरे डरने वालों को देखकर उल्टे हँसता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप को जानने वाले मनुष्य इस माया से मुक्त होकर दुःख रहित हो जाते हैं। और तेरे जैसे माया से मोहित पागलों को देखकर हँसते हैं। अतः आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर तू इस दुस्तर माया से पार हो और विवेक के बल से इस मोहजनित शोक को दूर कर। यह सुन कर उमारमण कहने लगा भगवन्! आपका दृष्टान्त लागू नहीं होता। क्यों कि स्वप्न और इन्द्रजाल की बातें मिथ्या होती हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभव आने वाला यह संसार सत्य है। सब बातें प्रत्यक्ष हुआ करती हैं। उसका कभी लोप नहीं होता। यह स्थिर हैं फिर यह स्वप्न की तरह कैसे हो सकता। उत्तर में वह बुद्धिमान् मुनिपुत्र कहने लगा—सुन, तू कहता है दृष्टान्त लागू नहीं होता, यह तुझे दूसरा मोह उत्पन्न हो गया है। जैसे किसी मनुष्य को स्वप्नरूपी एक भ्रम हो कर रस्सी में साँप दिखाने का और भी दूसरा भ्रम हो जाता है, वैसा ही तेरा हाल है। स्वप्न के वृक्ष आदि स्वप्न के समय क्या प्रत्यक्ष कार्यों का साधन नहीं करते? क्या वह राह चलने वालों को ताप के कष्ट से नहीं बचाते? क्या वह स्वप्न में पुरुषों को फल आदि देकर उनको सन्तोष नहीं करते? क्या कभी यह मालूम होता है कि वह स्थिर नहीं हैं, क्षणिक हैं? क्या स्वप्नसृष्टि कभी स्वप्न में झूठी मालूम होती है? यदि तुम कहना चाहो जाग्रत होते ही, वह सब झूठी हो जाती है, तो क्या यह सब जाग्रत प्रपञ्च भी निद्रा काल में

नष्ट नहीं हो जाता ? यदि फिर यह कहना चाहो वह दूसरे दिन अनुभव में आती है अतएव वह नष्ट नहीं होती तो स्वप्न के विषय भी क्या अनुभव में नहीं आते ? यदि यह कहो कि वे फिर भी अनुभव में नहीं आते तो वही पदार्थ जाग्रत में भी अनुभव में कब आता है। दूसरा नया ही मालूम होता है यदि तू यह भेद बतलावे कि पादार्थों के नूतन मालूम होने पर भी पृथ्वी आदि वही मालुम होती है तो स्वप्न में भी उन्हीं पुत्र कलत्रादि का अनुभव पुनः पुनः ही होता है। तू सूक्ष्म विचार करके देख कि यदि उस अनुभव को खोटा कहेगा, तो जाग्रत के अनुभव को भी झूँठा क्यों नहीं कहेगा ? जाग्रत अवस्था में देह वृक्ष, नदी, दीपक आदि जो पदार्थ भासित होते हैं, वे पतिक्षण भिन्न भिन्न होते हैं फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि बिल्कुल वैसे ही ज्यों के त्यों अनुभव में आते हैं। पर्वत सरीखे पदार्थ का भी स्वरूप दूसरे क्षण में ज्यों का त्यों नहीं रहता। वह झरने नाले आदि से बदलता रहता है। इसी प्रकार समुद्र और भूमण्डल प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है। फिर तू यह कैसे कहता है कि वे ज्यों के त्यों फिर भी अनुभव में आते है। राजन्, अब में उसका ठीक ठीक स्पष्टीकरण करता हूँ। थोड़ी सूक्ष्म बुद्धि से देख।

केवल विशिष्ट स्थान में और विशिष्ट समय में पदार्थों का अनुभव स्वप्न और जाग्रत में समान रूप से होता है। सब देशों में सब समय किसी पदार्थ का अनुभव हो सकना अत्यन्त दुर्लभ है। यह दोनों बातें नहीं हो सकतीं। यदि यह कहो; "पदार्थों का अनुभव पदार्थ रूप से नहीं, कारण रूप से होता है" तो कारण का अर्थ है पृथ्वी आदि पञ्चभूत इनका अनुभव तो स्वप्न में भी होता है। फिर अन्तर क्या है ? यदि यह कहो स्वप्न की व्यर्थता जाग्रत में ही हो जाती है, परन्तु जाग्रत की व्यर्थता कभी मालूम नहीं होती, तो अब विचार करो, कि व्यर्थता किसे कहते हैं ? पदार्थों का भास

न होना ही उनकी व्यर्थता है। यह अनुभव की बात है, कि नींद में सारे संसार का भास नहीं होता। फिर कैसे कहा जा सकता है कि जाग्रत की व्यर्थता नहीं होती। अब यदि कहो पदार्थों का भास न होना व्यर्थता नहीं है किन्तु यह जानना कि पदार्थ मिथ्या है, यही उनकी व्यर्थता है, तो मेरे समान भ्रान्त लोगों में ऐसा जानने की शुद्ध दृष्टि है कहाँ ? वह दृष्टि उन लोगों के पास रहती है जिन लोगों ने ज्ञेय वस्तु को पूरा पूरा पहचान लिया। अतः तेरा एक भी आक्षेप विचार के सामने नहीं ठहरता। इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह सब दृश्य जाल स्वप्न की सृष्टि के समान है। जाग्रत की तरह स्वप्न में भी दीर्घकाल का अनुभव होता है, अर्थात् स्वप्न सृष्टि भी बाधित न होने वाली समस्त व्यवहार करने वाली और स्थिर होने के कारण जाग्रत के बिल्कुल समान है। जाग्रत अवस्था में हमें मालूम होता है कि हम जाग रहे हैं। स्वप्न स्थिति में भी वैसा ही मालूम होता है फिर स्वप्न और जाग्रत में अन्तर कहाँ है ? और तू स्वप्न के रिश्तेदारों के लिए शोक क्यों नहीं करता ? यह संसार केवल भावना सामर्थ्य के कारण सच्चा मालूम होता है। शून्यता की भावना से शून्य अर्थात् खुला आकाश हो जावेगा। यदि दृढ़ निश्चय से यह भावना की जावे कि यह सब मिथ्या है तो सर्वत्र इसी आत्मभाव का अनुभव हुआ करेगा। कारण प्रत्यक्ष है। तुझे मेरा राज्य इसी गुहा में दिखाई पड़ा था। यदि इच्छा हो तो चल इसी पहाड़ी के चारों ओर एक चक्कर लगावें।

यह कहकर मुनि पुत्र उमारमण के साथ चला। दोनों ने पहाड़ी की प्रदक्षिणा की। वापस आने पर वह बुद्धिमान् मुनि पुत्र उमारमण से कहने लगा—राजन् ! पहाड़ी देखी। केवल तीन, चार मील परिधि की है। इसी के भीतर तूने अभी बहुत बड़ा विस्तृत प्रदेश देखा था। फिर यह जाग्रत है कि स्वप्न ? बोल, यह सत्य है कि मिथ्या ? पहाड़ी में तूने एक दिन व्यतीत किया है,

तब तक १२ अरब वर्ष बीत चुके। तो फिर अब सत्य और झूठ का निर्णय तू ही कर। जैसे दो भिन्न भिन्न स्वप्न हों वैसी ही बात यह भी है। अतः ध्यान में रख कि इस संसार में भावना ही सार है। भावना को छोड़ देने पर यह संसार एक क्षण में लय हो जायेगा। इस संसार को स्वप्न समझ कर शोक का त्याग कर। इस स्वप्न चित्र का आधार दर्पण तुल्य सच्चित् रूप केवल आत्मा है। इस बात को जानकर तू जैसा रहना चाहे वैसा रह। इस संसार चित्र का दर्पण चिद्रूप आत्मा को समझकर एक बार अपने अन्तःकरण को परमानन्द से भर जाने दे।

षोडशोऽध्यायः

संकल्प सिद्धि

प्रतीयते काल पदार्थ वस्तु ।
विभावितं भावनयैव सर्वम् ।।
भावेन सिद्धिः जगतश्च जाता ।
का कुत्र भावेन बिना प्रतीतिः ।। १६ ।।

मुनिपुत्र के भाषण को सुनकर उमारमण ने शुद्ध बुद्धि से गम्भीर विचार किया । अन्त में संसार की दशा को स्वप्न सदृश समझकर उसने शोक करना छोड़ दिया । मानसिक स्वास्थ्यता प्राप्त कर वह मुनिपुत्र से कहने लगा—भगवन् ! आप बड़े विद्वान् प्रत्यक्ष ब्रह्मदर्शी हैं । आप से कुछ छिपा नहीं है । अतएव मैं आपसे जो पूँछता हूँ उसका कृपा पूर्वक उत्तर दीजिये । आप कहते हैं कि यह सब संसार भावना प्रधान है और भावना के ही बल पर आपने इस पहाड़ी में स्वतन्त्र संसार भी निर्मित किया है, परन्तु मैं जैसी भावना करता हूँ वैसा अनुभव मुझे बाहर से क्यों नहीं होता ? दूसरी बात यह है कि एक समय में एक ही स्थान दो रूपों में कैसे दिखाई पड़ा ? इस में फिर सच्चा कौन है ? झूठा कौन है ? यह समझा दीजिये । मुनिपुत्र कहने लगा—भावना का अर्थ है सङ्कल्प । भावना दो प्रकार की होती है । एक सिद्ध, दूसरी असिद्ध । जिस भावना में उसके विरुद्ध विकल्प बिल्कुल प्रवेश नहीं होता अर्थात् मन अपने एक ध्येय से थोड़ा भी चञ्चल नहीं होता, उसे सिद्ध भावना कहते हैं । यह

संसार चित्र ब्रह्मदेव की भावना के कारण निर्मित हुआ है और समस्त जीवों की भावना की दृढ़ता के कारण इसे सत्यता भी मिली है। ब्रह्मा के संसार की तरह तुम्हारे सङ्कल्प जन्य संसार के सम्बन्ध में किसी की भी सत्यता की भावना नहीं है। इसी विकल्प के मन में आजाने के कारण तुम्हारी भावना असिद्ध है। यह भावना जन्य सिद्धि कई प्रकार की होती है। किसी को यह जन्म से ही प्राप्त होती है, किसी को प्रयत्न से, किसी को औषधि की सहायता से और किसी को योग मार्ग से, किसी को तपस्या से, किसी को मन्त्र सिद्धि से और किसी को वर मिलने पर भावना सिद्धी प्राप्त है। ब्रह्मा को जन्म से, यक्षराक्षसों को प्रयत्न से, देवताओं को अमृत से, योग मार्ग जन्य सिद्धि योगियों को योग से, तपस्वियों को तप से, मान्त्रिक लोगों को मन्त्र से, विश्वकर्मा को वर के द्वारा भावना सङ्कल्प सिद्धि मिली है। अतः जैसे जैसे अनुभव की आवश्यकता हो वैसे वैसे सङ्कल्प करना चाहिये। सङ्कल्प करते करते जब यह भावना भुला दी जावेगी कि मैं सङ्कल्प कर रहा हूँ, तब वह कल्पना सिद्धि होगी। इस प्रकार पहले का अन्य स्मरण छूट जावेगा और निर्विकल्प भावना बिल्कुल दृढ़ हो जावेगी तथा प्रयत्न के बिना विकल्प होना बन्द हो जावेगा, तब वह भावना सिद्ध हो जायेगी और फिर इच्छानुसार सब कार्य सिद्ध हो जाया करेंगे। राजा धीरे धीरे उत्पन्न होने वाले विकल्पों के कारण तेरी भावना अभी तक सिद्ध नहीं हुई है। यदि तेरी भी लिप्सा है तो तू भी अपनी भावना शीघ्र सिद्ध कर ले। फिर तुझे मेरे समान प्रत्यक्ष अनुभव होगा। दूसरी बात देशकाल के द्विविधिता के सम्बन्ध की है। यह कैसे मालूम हो। मैं उसे बतलाता हूँ। तूने लौकिक व्यवहार के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझा है। इसीलिए ही तुझे आश्चर्य मालूम होता है। अस्तु मेरे भाषण को ध्यान पूर्वक सुनो।

अनेक रूपों से भासित होना इस संसार का स्वभाव है। सूर्य का प्रकाश एक ही होता है। परन्तु उसका अनुभव दो प्रकार से

होता है। उल्लू पक्षी को अन्धकार और अन्य पुरुषों को प्रकाशरूप। मनुष्यों और पशुओं को पानी श्वांस लेने में बाधा करता है, परन्तु मछलियों को बाधक नहीं। आग सब जीवों को जलाती है परन्तु चकोर पक्षी को शीतलता देती है। पानी आग को बुझाता है परन्तु कहीं वह स्वयं आग रूप बन जाता है। यह उन पदार्थों का हाल है जिनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। परन्तु ऐसे भी सहस्रों पदार्थ हैं जो इन्द्रियों से न मालूम होने वाले और परस्पर विरुद्ध अनुभव के हैं। मैं उनकी उत्पत्ति बतलाता हूँ। यह सब अनुभव चक्षुरिन्द्रिय पर अवलम्बित हैं। नेत्रों की विकृति ही इसका स्वरूप है। नेत्रों के बाहर इस दृश्य का एक एक भी अँश कहीं नहीं है। जिस मनुष्य की आँखें पित्त दोष से बिगड़ जाती हैं वह बाहर सर्वत्र पीला ही देखता है। यह पीलापन यथार्थ में बाहर की वस्तुओं में नहीं रहता। तिमिर रोग वाला मनुष्य प्रत्येक वस्तु को दो प्रकार से देखता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न दोषों से नेत्रों के दूषित हो जाने के कारण सब लोग इस संसार का अनुभव भिन्न भिन्न रीति से करते हैं। पूर्व समुद्र में करण्ड नामक एक द्वीप है। वहाँ के मनुष्यों को सब पदार्थ लाल रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इसी तरह रमणक द्वीप के निवासियों को विपरीत दृष्टि से ऊपर के भाग नीचे और नीचे के ऊपर दिखाई देते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी नेत्रेन्द्रिय रचना के अनुसार नित्य भिन्न भिन्न बातें देखते हैं। यदि उन्हें सबकी तरह उल्टा दिखाई नहीं पड़ता, सीधा दिखाई पड़ता है तो औषधि से अपनी आँखों को सुधरवाकर पूर्ववत् लाल तथा उल्टे देखने लगते हैं। ऐसा करने पर उनको सन्तोष होता है। सारांश यह है कि इस संसार में पीलिया रोग से दूषित मनुष्यों की तरह आँखों से वैसा वैसा ही दिखाई पड़ता है जैसा जैसा देखा जाता है। यही दशा घ्राणादि इन्द्रियों की भी है। इनके गन्धादिक पदार्थ केवल घ्राणमात्र हैं। उनका अस्तित्व घ्राणेन्द्रिय से भिन्न नहीं है। इसी

प्रकार मानसिक भाव केवल मन है। व्यवहार में पदार्थों का जो क्रम और परस्पर सम्बन्ध भासित होता है वह सब इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ है। इनके बाहर कुछ भी नहीं है। "राजन! देखो इस संसार में जो कुछ बाहर भासमान होता है वही संसार का मूल है। संसार रूपी चित्र का वही दीवाल की तरह आधार है परन्तु उसे भी बाहर कहने के लिये निश्चित आधार कुछ भी नहीं है। यह नहीं मालूम कि वह किसके बाहर है। यदि हम ऐसा उपादान ढूँढ़ने लगें तो कदाचित् शरीर हो सके दूसरा कुछ नहीं माना जा सकता। परन्तु यथार्थ में शरीर भी बाहर ही भासित होता है। फिर वह संसार को बाहर बतलाने के लिये उपादान कैसे हो सकता है। पर्वत के बाहर कहने पर पर्वत बाहर नहीं होता इसीलिये घट की तरह शरीर भी बाहर मालूम होता है। अब यदि कहें इसका जो भासक है उसके बाहर है तो यह भी ठीक नहीं? क्योंकि जो दीप अथवा सूर्य के प्रकाश के बाहर अन्धकार में होगा वह कभी भासमान नहीं होगा। इसीलिये यही कहना उचित मालूम होता है कि जब यह सारा संसार भासमान हो रहा है तब वह भासक के भीतर ही अब यह विचार करना चाहिये कि यह भासक कौन है? देहादिकों को भासक नहीं कहा जा सकता। क्यों कि पर्वत आदि की तरह देह भास्य वस्तु है। अतएव जो भास्य है वही भासक है यह कहना बिल्कुल अयोग्य है भासक का भास्य हो जाने पर भासकता रह ही नहीं सकती। स्वयं भासक और स्वयं भास्य होने पर कर्तृ-कर्म विरोध उत्पन्न हो जाता है। अतएव यह ठीक नहीं है। जो भासक तत्व है उसे अत्यन्त शुद्ध एक ही रूप का केवल प्रकाश रूप परिपूर्ण और एक रसात्मक होना चाहिये। देश और काल उसी से व्याप्त है। क्यों कि यह भी भासक के कारण भासित होते हैं। इसीलिये वह भासक तत्व परिपूर्ण है। इसके सिवाय जिसे भासक से तादात्म्य नहीं मिला वह भासमान भी नहीं होता। इस

कारण उस भासक के भीतर दूसरे कोई नहीं है। केवल वही प्रकाशक होकर एकरस से भरा है। भीतर और बाहर जो पदार्थ भासमान होते हैं वह सब उसी में स्थित हैं। पर्वत का शिखर जैसे पर्वत के बाहर नहीं कहा जा सकता। इसी तरह बाहर भासित होने वाला यह संसार भासक से बाहर नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह प्रकाश स्वरूप भासक सब प्रपञ्च को ग्रस रहा है। वही आत्मरूप तुमने स्वतन्त्रतापूर्वक सब समय और सब स्थान में भासमान हो रहा है। इसी का नाम परम चैतन्य स्वरूप ब्रह्मदेव है। इसी को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, शैव शिव, वैष्णव विष्णु, शाक्त शक्ति कहते हैं। इस चित्स्वरूप के अतिरिक्त जो कुछ बतलाया गया है वह अपूर्ण है पूर्णरूप यही है। जैसे सब प्रतिबिम्ब में दर्पण व्याप्त रहता है। वैसे ही इस चैतन्य शक्ति से सब व्याप्त है। उसमें जो भासकता है वह भास्य की आवश्यकता के कारण है। वस्तुतः उसमें नहीं है। दर्पण में देखने वाले नगर की तरह सब भास्य पदार्थ भानरूप से अभिन्न हैं। दर्पण का नगर जैसे उससे भिन्न नहीं है वैसे ही पूर्ण एकरस चैतन्य में भासित होने वाला यह संसार उससे भिन्न नहीं है। दर्पण पर भासित होने वाला नगर जैसे उससे भिन्न नहीं प्रमाणित किया जा सकता वैसे ही संसार एक रस चैतन्य से भिन्न नहीं बतलाया जा सकता। आकाश पोला है और उसका स्वरूप शून्य है। फलतः उसमें उससे भिन्न रहने वाला संसार समा सकता है। परन्तु सर्वदा और सर्वत्र सद्रूप तथा एकरस चैतन्य में द्वितीयत्त्व का लवलेश हो नहीं सकता। साराँश यह है कि शुद्ध संवित् दर्पण की तरह स्वच्छ है वह अपने अद्वितीय स्वरूप में अपनी स्वतन्त्रता के बल पर सब चराचर को भासित करता है। इस रीति से निमित्त और उपादान कारणों के बिना ही यह अत्यन्त आश्चर्य पूर्ण द्वैत प्रकट होता है। दर्पण में अनेक आकारों के व्यक्त होने पर भी उनकी एकता थोड़ी भी न बिगड़कर स्पष्ट मालूम होती है। इसी प्रकार संसार में अनेक अद्भुत भास्यों के भासमान

होने पर भी उन सब में मिलकर रहने वाला एकचित् तत्व निर्दोष ही रहता है ।

"राजन्! तू अपने ही मनोराज्य का सूक्ष्म विचार कर। वहाँ भी स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा। कि केवल चैतन्य भिन्न व विचित्र आकार धारण करता है। अतएव जैसे प्रतिबिम्ब के पड़ने अथवा न पड़ने पर दर्पण शुद्ध ही रहता है, वैसे ही वह चिद्रूप सृष्टि काल में और प्रलयकाल में निर्विकल्प ही रहता है। अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा यह एक रस चैतन्य अपने ही स्वरूप को बाहर करके भासित करता है। यही प्रथम उत्पत्ति है। इसे ही अविद्या कहते हैं। कोई इसे तम कहते हैं। परिपूर्ण व्यापक चिद्रूप में अँशात्मक सा जो भान् होता है उसे वाह्य भास कहते हैं। अहमात्मस्वरूप पूर्ण चैतन्य में "अहम्" का स्फुरण न रहने के कारण "अनहं भावना" प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिसमें अहं तत्व नहीं है वह जड़ ही है। इस जड़ तत्व को अव्यक्त कहते हैं। मनुष्य भी अपने में अहम्भाव को धारण करता है। परन्तु शरीर के हाथ पैर आदि अंशों में उसका "अहम्पन" नहीं रहता। इसी तरह जड़ अव्यक्त तत्वरूप पर शुद्ध चैतन्य को अहं का स्फुरण नहीं होता। वह उसका विराट् स्वरूप ही है। इस स्थान में जो चैतन्य मर्यादितपन से भासित होता है उसे "शिव तत्व" कहते हैं। यह वही शिवतत्व है जो जड़ सृष्टि के लय हो जाने पर चैतन्य का निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप शेष रहता है। और जो वाह्याभास अर्थात् अहं का स्फुरण है। जो चैतन्य का सविकल्प स्वरूप है उसे शक्ति कहते हैं। यह जीव तत्व है और बाहर शून्याकाश में जिस पदार्थ की कल्पना होती है उसमें यह "मैं हूँ" का भाव रखने वाले को "सदा शिव" कहते हैं। इस तीसरे तत्व "यह मैं हूँ" के जड़तत्व का विचार करते समय उसे ईश्वर नाम देते हैं। इसे चौथा तत्व समझना चाहिये। सदाशिव और ईश्वरके दो तत्वों में जो भेदाभेद पूर्वक संवेदना है, जो इन दोनों का अनुगत

होकर सामान्यता में भासित होता है, वह शुद्ध विद्यानामक पाँचवाँ तत्व है। यहाँ तक जड़ शक्ति का विकास नहीं होता। यह सब आत्म तत्व के ही अभाव से ही हैं। अतएव इन पाँचों तत्वों को 'शुद्धतत्त्व पञ्चक' कहते हैं। अस्तु इनके अनन्तर जब भेद सङ्कल्प चित्स्वतन्त्रता के माहात्म्य से बढ़ता है, तब चैतन्य जड़ शक्ति का धर्म हो जाता है और जड़ शक्ति धर्मी बन जाता है। उस समय उस जड़ शक्ति को माया कहते हैं। भेद सङ्कल्प की प्रबलता होने के कारण जो विशिष्ट भेद निश्चित करने वाली अवस्था है, वही माया है। जब चिति इसी भेद भावना से व्याप्त होती है तब सङ्कोच पाकर उसे पञ्च कञ्चुओं-आवरण-के योग से पुरुषरूप प्राप्त होता है। कला, विद्या, राग, काल और नियति यह पञ्च कञ्चुका हैं। यह पाँचों शक्तियाँ शिव में पूर्णतया और जीव में अंशतः रहती हैं। जीवके पाँच लक्षण यह हैं। (१) कुछ मर्यादा तक करना। (२) कुछ मर्यादा तक जानना। (३) कुछ मर्यादा तक इच्छा करना। (४) कुछ समय तक रहना। (५) कुछ बातों में स्वावलम्बी होना।

काल से जीव भले बुरे कर्म कर रहा है। इन कर्मों के संस्कार के समुदाय को प्रकृति कहते हैं। कर्म के फल तीन प्रकार के होते हैं। सुख, दुख तथा मोह। अतएव प्रकृति भी तीन प्रकार की होती है। उसी की विशिष्ट अवस्था को चित्त कहते हैं। सुषुप्ति की स्थिति में उसे प्रकृति कहते हैं। इस स्थिति के अन्त होते ही उसका नाम चित्त हो जाता है। उसका नाम अव्यक्तगामी है। पुरुष भेद से चित्त कई प्रकार का होता है। परन्तु सब जीवों में मूल स्वरूप एक ही होने के कारण सुषुप्ति अवस्था में वह सदा एकरूप से ही रहता है। अतएव वह उस समय प्रकृति कहाता है। जाग्रति फिर चित्त बन जाता है। चैतन्य की प्रधानता के कारण इसी को पुरुष कहते हैं। अव्यक्त की प्रधानता से वह प्रकृति बन जाता है। क्रिया भेद से चित्त, अहङ्कार, मन बुद्धि रूप से तीन प्रकार का होता है।

इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं। फिर शब्दादि विषय पञ्चक और आकाश आदि सूक्ष्म तथा स्थूल पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं।

मुनि पुत्र फिर कहने लगा—राजन्! वह शुद्ध और सर्वसाक्षी परम संवित् इस क्रम से बाहर का आभास प्रगट करके क्रीड़ा कर रहा है। उन सबका कारण ब्रह्मदेव है। उसने सृष्टिकाल के आरम्भ में हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा को अपनी भावना के बल से बनाया था। इन्हीं की भावना से यह संसार प्रगट हुआ है। मैं तू इत्यादि रूपों से जो संवित् शुद्ध ज्ञान स्वरूप और अनुभव रूप से भासित हो रहा है, वह वही चैतन्य शक्ति है, उसके मूल स्वरूप में भेद नहीं है। उपाधि के कारण भेद मालूम होता है। उस उपाधि का जन्म ब्रह्म की भावना के कारण हुआ है और उसका संहार होने पर भेद नहीं रह जावेगा। चैतन्य की भावना का सामर्थ्य तुझमें माया के कारण आवृत हो गया है। मैं एक क्षुद्र हूँ। हृदय की यह दृढ़ ग्रन्थि माया का स्वरूप है। उस माया आवरण के नष्ट होते ही तेरी वह शक्ति सिद्ध हो जावेगी। चाहे देश काल कुछ भी क्यों न हों, भावना के अनुसार वह अल्प अथवा विस्तृत मालूम होते हैं। मैंने एक दिन की भावना की थी। अतएव एक दिन हुआ, परन्तु उसी समय ब्रह्मा ने १२ अरब वर्षों की भावना की थी, अतः छोटे बड़े का अनुभव हुआ।"

ब्रह्मा के बनाये हुये तीन चार मील के पहाड़ में मैंने अनन्त प्रदेश की भावना की थी। अतः उसमें अनन्तता उत्पन्न हो गई। अब कहो तो यह सब बातें सच्ची हैं, और कहो तो झूठी भी हैं। क्यों कि यह सब पूरी तरह भावना पर अवलम्बित है। चाहें तो तू भी एक दो मील के प्रदेश और अल्प काल से लेकर अनन्त योजन लम्बे प्रदेश की और दीर्घकाल की भावना कर, भावना के सिद्ध होते ही अर्थात् चित्त में विरुद्ध विकल्पों का उदय होना बन्द

होते ही तुझे उसका प्रत्यक्ष अनुभव होगा। सारांश यह है कि वाह्य जगत केवल भावना मात्र है। अर्थात् यह चित्रमय जगत अव्यक्त नामक दीवाल पर अव्यक्तैक स्वरूप से भासित हो रहा है। यह अव्यक्त दीवाल चैतन्य है। इसीलिये सामान्य मनुष्य को जहाँ जाने में कई युग लग जाते हैं उन दूर देशों में भी योगी एक क्षण में जा सकता है। उमारमण! यह निश्चयपूर्वक जानकर कि दूर अथवा निकट और विलम्ब अथवा शीघ्र की सिद्धता भावना के बल पर है और इनका आश्रय चैतन्य रूप है, तू विशुद्ध चित् भावना की सहायता से सब भ्रान्तियों को छोड़ दे। फिर मेरी तरह तू भी सर्व समर्थ हो जावेगा।

इस भाषण को सुनकर कुछ देर तक विचार करने से उमारमण के सब भ्रम दूर हो गये। समस्त ज्ञेय बातों को जान लेने के कारण उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो गया। समाधि का अभ्यास करके उसने भावना सामर्थ्य प्राप्त किया और सर्व समर्थ होकर इस पृथ्वी में चिरकाल तक विहार किया। शरीर के "अहंभाव" को नष्ट करके शुद्ध चैतन्य स्वरूप के आश्रय से अन्त में उसे परम निर्वाण पद प्राप्त हो गया।

श्री वेद व्यास जी कहने लगे—सूत! यह संसार केवल सत्यता की भावना के कारण से ही भासित होता है! तू इसका ठीक ठीक विचार कर तेरे चित्त का सब भ्रम विचार की सहायता से नष्ट हो जावेगा।

सप्तदशोऽध्यायः

वरुण का यज्ञ

वितण्डया विप्रकुलान्स वारुणिः ।
विजित्य तान् वारिनिधौ न्यमज्जयत् ॥
कहोल पुत्रेण पराजितः स वै ।
मुनिस्तु गार्ग्या बहु खिन्नताङ्गतः ॥ १७ ॥

सङ्कल्प सामर्थ्य की अद्भुतता सुनकर सूत को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उनने श्री गुरु के कथन पर खूब विचार किया और शुद्ध बुद्धि से मन में कुछ निश्चय किया। अनन्तर उसने श्री वेदव्यास से एक प्रश्न किया। वह कहने लगा भगवन् ! आपने जो अनेक बोध-प्रद बातें बतलाई हैं उनके सम्बन्ध में मैंने बहुत विचार किया है। मैंने यह सार तत्व निकाला है। संवेदन चैतन्य अथवा ज्ञान ही सत्य तत्व है। सम्वेद्य विषय अथवा ज्ञेय जानने योग्य भाव उसके आधार पर कल्पित हैं। दर्पण से भासित होने वाला नगर की तरह वह झूँठी कल्पना है। वह चैतन्य ही परम सामर्थ्य संवित्रूप परमेश्वर है। स्वरूप की दीवाल में वाह्य पदार्थों से इस बहुविधि संसार चित्र को वही भासित करता है। वह स्वतन्त्र है, अतएव इस काम में किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। सूक्ष्म विचार करने पर मैंने इतना समझ लिया है। परन्तु संवित को आप वस्तुतः वेद्य रहित अर्थात् निर्विकल्प बतलाते हैं, जिससे मुझे उसका मिल सकना असम्भव है। मालूम होता। क्यों कि वह सदैव संवेद्य भावों

से लगी हुई है। फिर निर्विकल्प स्थिति को वेद्य रहित संवित् कैसे जाना जावे? निर्विकल्प ज्ञान होने पर यदि मोक्ष होता होगा तो मुक्त हो जाने पर व्यवहार कैसे किया जावे? ज्ञानी लोग भी व्यवहार करते पाये जाते हैं फिर उनमें वह निर्विकल्प अवस्था कैसे रह सकती है? यह नहीं समझ पड़ता कि शुद्ध निर्विकल्प अवस्था में व्यवहार कैसे होता होगा। दूसरी बात यह है कि ज्ञान एक ही प्रकार का है, अर्थात् उसका फल मोक्ष भी एक ही प्रकार का होगा, फिर संसार में ज्ञानियों में भेद कैसे पाया जाता है। बहुत से ज्ञानी शास्त्र विहित कार्य करते हैं। बहुत से ज्ञानी भिन्न भिन्न देवताओं की भक्ति करते हैं। कोई इन्द्रियों का संहार कर समाधि में निमग्न हो जाते हैं। कोई तप करके शरीर को जलाते रहते हैं। कोई शिष्यों को तत्वोपदेश करते रहते हैं। कोई दण्ड नीति के मार्ग को स्वीकार कर राज्य कार्य चलाते रहते हैं। कोई सभा कर प्रतिपक्षियों से विवाद किया करते हैं। कोई सदैव पागल की तरह रहते हैं। कोई लोकनिन्द्य वृत्ति से ही जीवन व्यतीत करते हैं। और फिर यह लोग सारे संसार में ज्ञानी कहे जाते हैं। तो साधन और फल में भेद न रहने पर भी स्थिति में भेद क्यों पढ़ जाता है। इन लोगों का समान ज्ञान रहता है कि न्यूनाधिक ज्ञान रहता है। मुझ पर आपकी बड़ी कृपा है। इन बातों को आप समझाकर बतलाइये।

प्रश्नों को सुनकर वेदव्यास प्रसन्न हो गये और उन्हें योग्य देख कर वह कहने लगे—सूत! सचमुच तू बुद्धिमानों में श्रेष्ठ है। सद्विचार तत्पर होने के कारण तू तत्व ज्ञान सुनने का पात्र है। सद् विचार, तत्परता, ईश्वर की कृपा का चिह्न है। भगवत्कृपा के बिना किसी का परम कल्याण नहीं हो सकता। आत्मदेव की कृपा होने के कारण तेरा सद् विचार नित्य बढ़ रहा है। तुझे जो तत्व मालूम हो चुके हैं वह ठीक हैं, गलत नहीं हैं। परन्तु तुझे शुद्ध

चैतन्य का स्वरूप अभी तक ठीक ठीक नहीं समझ पड़ा है। इसी लिए तुझे फिर पूँछना पड़ा। सूत! जब तक तटस्थ रह कर ही ब्रह्म की पहचान नहीं की जाती है तब तक उसका सम्यक् ज्ञान नहीं होता। क्यों कि उसका निश्चय ज्ञान हो जाने पर आसन पर तटस्थ बैठे रहने की आवश्यकता नहीं होती। तटस्थ रहकर ब्रह्म को पहचानना स्वप्न ज्ञान सदृश क्षणिक है, नित्य नहीं, क्यों कि उत्थान होते ही वह नष्ट हो जाता है। स्वप्न में मिला हुआ खजाना जैसे जागने पर निरूपयोगी हो जाता है वही दशा तटस्थ ज्ञान की है। यह मुख्य फल मोक्ष नहीं दे सकता। इस विषय में तुझे एक सुन्दर इतिहास सुनाता हूँ।

पूर्वकाल मिथला देश में जनक नामक बड़ा बुद्धिमान् और अत्यन्त धर्मात्मा राजा था। उसे स्वरूप का ज्ञान हो चुका था। एक बार विधिपूर्वक यज्ञ करके उसने आत्म स्वरूप की पूजा की। उस समय वहाँ बहुत से ब्राह्मण विद्वान् तपस्वी, कुशल वैदिक, याज्ञिक और अन्य लोग एकत्रित थे।

उसी समय वरुण ने दूसरी ओर यज्ञ आरम्भ कर ब्राह्मणों को बुलाया। परन्तु जनक पर विशेष प्रेम होने के कारण ब्राह्मण लोग वरुण के यहाँ नहीं गये। तब उन ब्राह्मणों को ले जाने के लिए वरुण के तीक्ष्ण बुद्धि वाले लड़के ने स्वयं एक कपटी ब्राह्मण का रूप रख कर जनक के यज्ञ मण्डप में प्रवेश किया। सभासदों और राजा के देखते देखते उसने सभा के सब पण्डितों का बड़ा अपमान किया। राजा को आशीर्वाद देकर वह कहने लगा—राजन्! तेरे यज्ञ मण्डप में यथेष्ट शोभा नहीं है। जैसे समुद्र के किनारे कौआ जमा होते हैं, वही यहाँ भी हाल है। कमल सरोवर की शोभा हँसों से है। और सभा की सुन्दरता विद्वानों से है। यहाँ तो मुझे एक भी विद्वान् दिखाई नहीं पड़ता, तो भी तेरा कल्याण हो। मैं अब जाता हूँ। मेरा यहाँ निर्वाह नहीं होगा। मूर्खों से भरी हुई इस सभा में मैं कैसे बैठ सकता हूँ।

वरुण पुत्र की बातों को सुनते ही सब सभासद् बहुत क्रुद्ध हो गये। क्यों रे ब्राह्मण ! सब का अपमान् करता है। तेरे पास ऐसी कौन सी बड़ी भारी विद्या है, जिससे तू हम सब लोगों को हरा सकता है। अरे मूर्ख, तू व्यर्थ ही शेखी मारता है। पहले हम लोगों को जीत ले फिर चले जाना। यहाँ संसार भर के सब विद्वान् उपस्थित हैं। क्यों रे मूर्ख ! क्या तू सारे भूलोक को जीतने का साहस करता है। बोल ! तेरे पास कौन सी विद्या है।

सभा के विद्वानों से इस प्रकार आह्वान करने पर वरुण पुत्र का हेतु सिद्ध हो गया। उसे आनन्द मालूम होने लगा। फिर वह सभा सदों से कहने लगा—अधिक कहने से क्या ? मैं प्रण करके कहता हूँ कि तुम सब लोगों को एक क्षण में जीत लूँगा। यदि मैं हार जाऊँ तो मुझे समुद्र में डुबो देना। नहीं तो तुमसे मैं जिस जिस को जीतूँगा उस उसको समुद्र में ले जाकर डुबा दूँगा। यह बात स्वीकार हो, तो विवाद प्रारम्भ करो।

सब सभासदों ने इस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया। बड़ा प्रचण्ड विवाद प्रारम्भ हुआ। वरुण पुत्र बहुतेरे ब्राह्मणों को वितण्डावाद के द्वारा जीत लिया। ठहरी हुई प्रतिज्ञानुसार उसने सहस्रशः ब्राह्मणों को समुद्र में डुबा दिया। डूबे हुए ब्राह्मणों को वरुण के सेवक वरुण यज्ञ में ले जाकर पहुँचा देते थे। वरुण का आदर सत्कार पाकर ब्राह्मणों ने आनन्द पूर्वक उसका यज्ञ कार्य भार वहन किया। इस प्रकार एक बार कहोल ऋषि को डुबाने की बारी आई। उसका पुत्र अष्टावक्र सयुक्तिक और वितण्डा दोनों ही प्रकार से विवाद में प्रवीण था। पिता का डुबाया जाना सुनकर वह सभा में गया और वारुणि को विवादार्थ बुलाया। वारुणि हार गया। उसको डुबाने की बारी आई। वारुणि ने तुरन्त ब्राह्मण वेश त्याग कर अपना मूल स्वरूप प्रगट कर दिया और वरुण लोक को चला गया। वहाँ से वह सभी ब्राह्मणों को वापिस लाया और जनक की सभा में पहुँचा दिया।

ब्राह्मणों के वापिस आने पर अष्टावक्र को अपनी विवाद विद्या पर गर्व हो गया। वह ब्राह्मणों से बढ़ चढ़कर बातें करने लगा। उसके इस अपमान कारक आवरण से ब्राह्मण लोग द्वेष करने लगे। उसी समय वहाँ परम विदुषी गार्गी आई। ब्राह्मणों की दशा सुनकर तपस्विनी गार्गी ने उन्हें आश्वासन दिया। वह फिर सभा में गई। उसके शरीर पर काषाय वस्त्र, शिर पर सुन्दर जटा थी। योगाभ्यास के कारण शरीर कान्तिमय हो गया था। दर्शकों को उसके प्रति पूज्यभाव उत्पन्न हो गया था। सभा में जाते ही जनक ने उसका खूब आदर सत्कार किया। प्रसङ्ग देखकर उसने अष्टावक्र से एक प्रश्न किया। वह कहने लगी⋯कि बच्चा तू बड़ा बुद्धिमान् है। तूने वरुणपुत्र को जीतकर ब्राह्मणों को छुड़ाया है। बड़ा अच्छा काम किया है। मैं एक बात पूँछती हूँ मुझे सरलता से वितण्डावाद छोड़कर उत्तर देना। क्या तू उस परमपद को जानता है, जिससे सर्वत्र एक ही अमृत तत्व का व्याप्त होना सिद्ध होता है ? उस पद को समझने पर सब सन्देह नष्ट हो जाते हैं। जानने के लिए कुछ बाकी नहीं रह जाता और कुछ इच्छा भी शेष नहीं रहती। यह भी नहीं है कि वह स्वयं जाना जा सके, यदि तुझे वह पद मालूम हो तो मुझे बतला।

तापसी के प्रश्न को सुनकर अष्टावक्र कहने लगा कि मैं उस पद को ज़ानता हूँ। बहुत से लोगों को मैंने बतलाया भी है। तुझे भी बतलाता हूँ। सुन इस संसार में कुछ भी नहीं, जिसे मैंने नहीं जाना। तेरे इस प्रश्न में क्या है। मैंने सब शास्त्रों को बार बार उलट पलट डाला है। तू जिस पद के विषय में पूँछती है वह सारे संसार का मूल है। उसका आदि, अन्त, मध्य कुछ भी नहीं है। वह देश और काल से अमर्यादित है। और शुद्ध तथा अखण्ड चैतन्य स्वरूप है। यह वही परमपद है जो संसार दर्पण पर नगर की तरह विराजमान है। उसका ज्ञान होने पर अमृतत्व मिल जाता है। उस

पद के विदित हो जाने पर पुरुष की वही दशा होती है जो दर्पण को समझ लेने पर प्रतिविम्ब को जान लेना बाकी नहीं रह जाता। उसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह भी शेष नहीं रहता और किसी तरह की आशा भी नहीं करनी पड़ती। उसको जानने वाला उससे अन्य कोई नहीं है। अतएव वह वस्तुतः अज्ञेय ही है। तपस्विन्! शास्त्रों से उस तत्व का निर्णय ऐसा ही किया गया है।

अष्टावक्र के भाषण को सुनकर तपस्विन् फिर बोलने लगी—ऋषिपुत्र! तूने ठीक बतलाया है। तेरा कथन जैसा चाहिये वैसा ही उत्तम और सर्व सम्पन्न है। परन्तु तू कहता है कि उसे जानने वाला कोई दूसरा न होने के कारण अज्ञेय है। फिर तू यह भी कहता है कि उसका ज्ञान होने पर अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। अतएव तेरी यह बातें सुसङ्गत कैसे हो सकती हैं। यदि वह अज्ञेय है तो तुझे कहना चाहिये कि मैं उसे नहीं जानता, यदि वह अज्ञेय नहीं तो तुझे कहना चाहिये कि मैं जानता हूँ और फिर उसे ज्ञेय कहना चाहिये। तूने शास्त्रों का निर्णय बतलाया है। इससे मालुम होता है कि तू उस पद को स्वयं नहीं समझता और न तुझे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान ही हुआ है। यदि तू सब प्रतिबिम्बों को ज्यों का त्यों प्रत्यक्ष देखता है तो तुझे दर्पण प्रत्यक्ष दिखाई क्यों नहीं पड़ता। तू इस तरह का भाषण जनक की सभा में करता है, क्या इससे तेरा पागलपन नहीं मालूम होता।

अष्टावक्र चुप रहा और लज्जित हो गया। कुछ देर शान्त रहकर उसने विचार किया, परन्तु कुछ भी न उत्तर समझ में आने से कहने लगा कि हे गर्गी! खेद है कि मैं तेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। अब मैं तेरा शिष्य हूँ। तू मुझे समझा दे कि शास्त्रों में ऐसा विरोधी निरूपण कैसे किया गया है। मैं झूँठ नहीं कहूँगा कि मैं जानता हूँ। झूठ बोलने से पुण्य का नाश होकर अनर्थ होता है। अष्टावक्र के उत्तर में सत्यता देखकर तपस्विनी सन्तुष्ट हो गई।

अनन्तर सब सभासदों के सामने वह कहने लगी कि इसी मर्म को न समझने के कारण बहुतेरे लोग मोहवश हो जाते हैं। यह केवल तर्कों से नहीं जाना जाता। शास्त्रों ने इसे गूढ़ ही रख छोड़ा है। यहाँ भी इसे जनक के और मेरे सिवाय कोई भी नहीं जानता। सब जगह वाद विवाद होता है। परन्तु तार्किक विद्वानों की मण्डली में इस प्रश्न और उसके उत्तर का प्रायः समाधान नहीं होता। कुशाग्रबुद्धि होने पर भी केवल तर्क से अर्थात् सद्गुरु सेवा के बिना और ईश्वर की कृपा के बिना यह ठीक से समझ में नहीं पड़ता। तू सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, मैं तुझे समझा देती हूँ। विचार किये बिना सुनने से समझ में नहीं आवेगा। यह ज्ञान जब तक अन्तरमुख होकर नहीं समझा जाता, तब तक दूसरा चाहे हजार बार सुनावे और स्वयं हजार बार सुने परन्तु सब निरर्थक है। मनुष्य अपने गले के हार को भ्रम से भूल कर समझ बैठता है कि उसे चोर ले गया। यदि कोई कहे हार तेरे गले में है तो भी अपने गले में हार को प्रत्यक्ष देखे बिना बड़ा विचारशील होने पर भी वह नहीं पा सकता। इसी प्रकार "आत्मा" स्वस्वरूप है यह जानकर भी अन्तर्मुखी वृत्ति से प्रत्यक्ष देखे बिना वह प्राप्त नहीं होती। दीपक अन्य पदार्थों का प्रकाशक है स्वयं किसी द्वारा प्रकाश्य नहीं। दूसरे प्रकाश की उसे आवश्यकता नहीं होती। यही दशा सूर्य की भी है। अन्य प्रकाशक पदार्थों की भी यही स्थिति होती है। तुझे यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि शुद्ध चित्तत्व स्वयं प्रकाश और संवेद्य न होकर भी कैसे प्रकाशमान् है ?

अष्टावक्र ! तू अन्तरङ्ग दृष्टि से विचार कर कि यह चित् शक्ति परम श्रेष्ठ और सर्वाधार स्वरूप है। सर्व प्रकाशक यह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती। यदि यह प्रकाशित नहीं होती तो फिर प्रकाशित क्या होती है ? किसी वस्तु का प्रकाश हो या न हो पर चित्शक्ति तो प्रकाशित रहती ही है। क्यों कि प्रकाश का अभाव भी

जिस शक्ति से भासित होता वह स्वयं भासित क्यों न होगी ? अब विचारणीय यह है कि वह कैसे भासित होती है ? इस विषय में विद्वानों की बुद्धि भी भ्रम में पड़ जाती है । अन्तर्दृष्टि से काम लिये बिना वह मोह ग्रस्त हो जाते हैं । जब तक वाह्य प्रवृत्ति त्याग कर मनोवृत्ति शान्त नहीं होती तब तक अन्तर्मुखता प्राप्त नहीं होती । अन्तर्दृष्टि हुये बिना स्वरूप दर्शन नहीं हो सकता । मन का निःसङ्कल्प होना ही अन्तर्दृष्टि है । सङ्कल्प के शेष रहने पर कोई भी अन्तर्मुख नहीं हो सकता ? अतः सर्वसङ्कल्पों को त्याग कर स्वस्वरूप का आश्रय लेना चाहिये । वहाँ स्थिति प्राप्त कर "मैं निस्सङ्कल्प स्थित हूँ", इस विचार को भी त्याग दे । उस क्षण केवल उस अवस्था का स्मरण रख । तब तुझे ज्ञात होगा कि वह तत्व ज्ञेय कैसे है ? और अज्ञेय कैसे है ? इस प्रकार तू परमपद को जान कर अमृतावस्था को प्राप्त कर ।

इतना कहकर तपस्वनी गार्गी कुछ विराम लेकर पुनः कहने लगी कि मुनिपुत्र ! मैंने तुझे सब बतला दिया, अब मैं जाती हूँ । साधारण रूप से एक बार सुनने के कारण तू ठीक ठीक नहीं समझा होगा । अतः इस रहस्य को महा विद्वान् राजा जनक तुम्हें समझायेंगे । वही तुम्हारे सकल संशयों को नष्ट करेंगे । इतना कहकर तपस्विनी गार्गी योग शक्ति द्वारा अन्तर्धान हो गई ।

श्री वेदव्यास जी कह रहे हैं कि हे सूत ? मैंने तुझे स्वरूप प्राप्त करने का उत्तम उपाय बताया है । इससे तू समझ लेगा कि निर्विकल्प चित्स्वरूप अर्थात् वेद्य रहित संवित् का अनुभव कैसे होता है ।
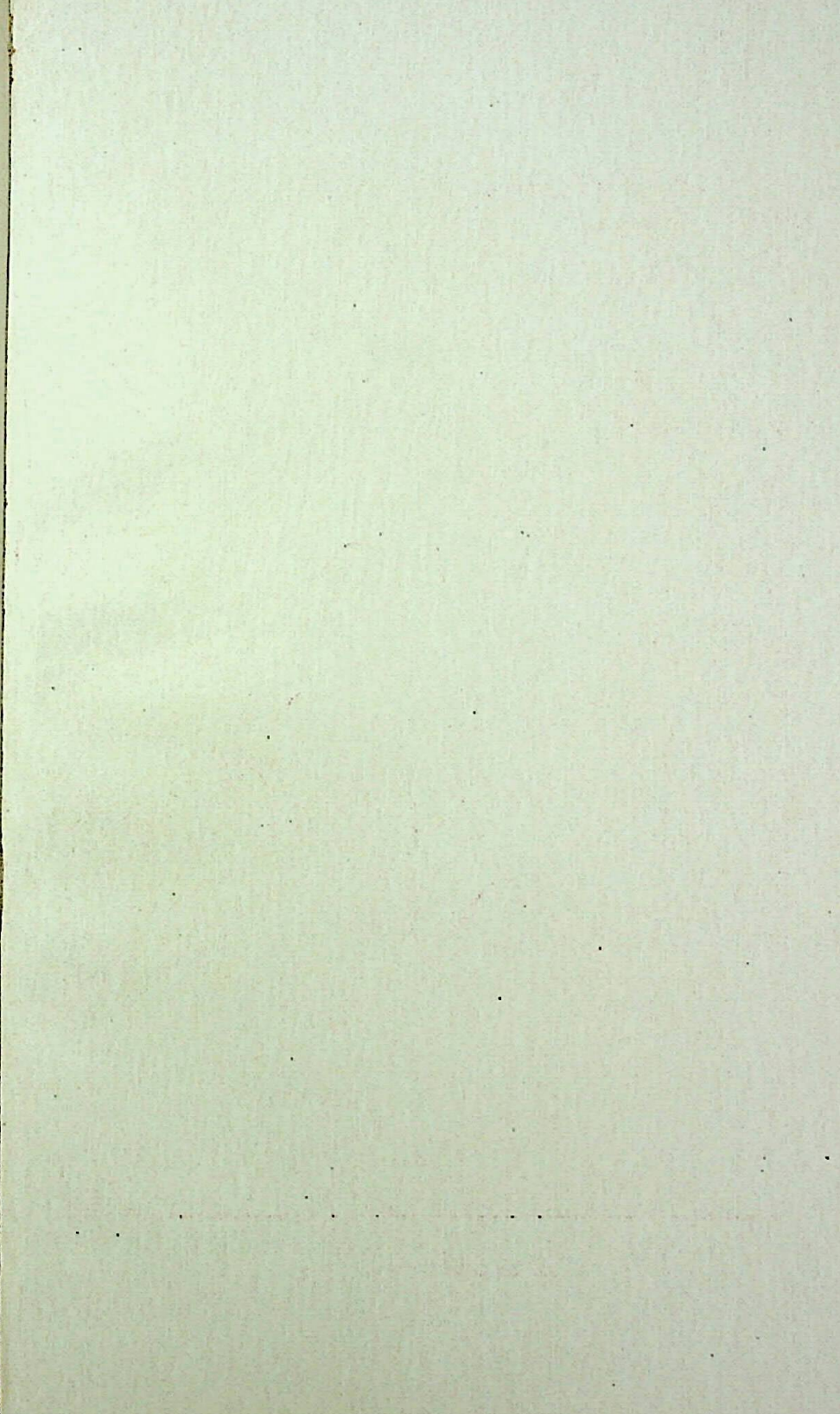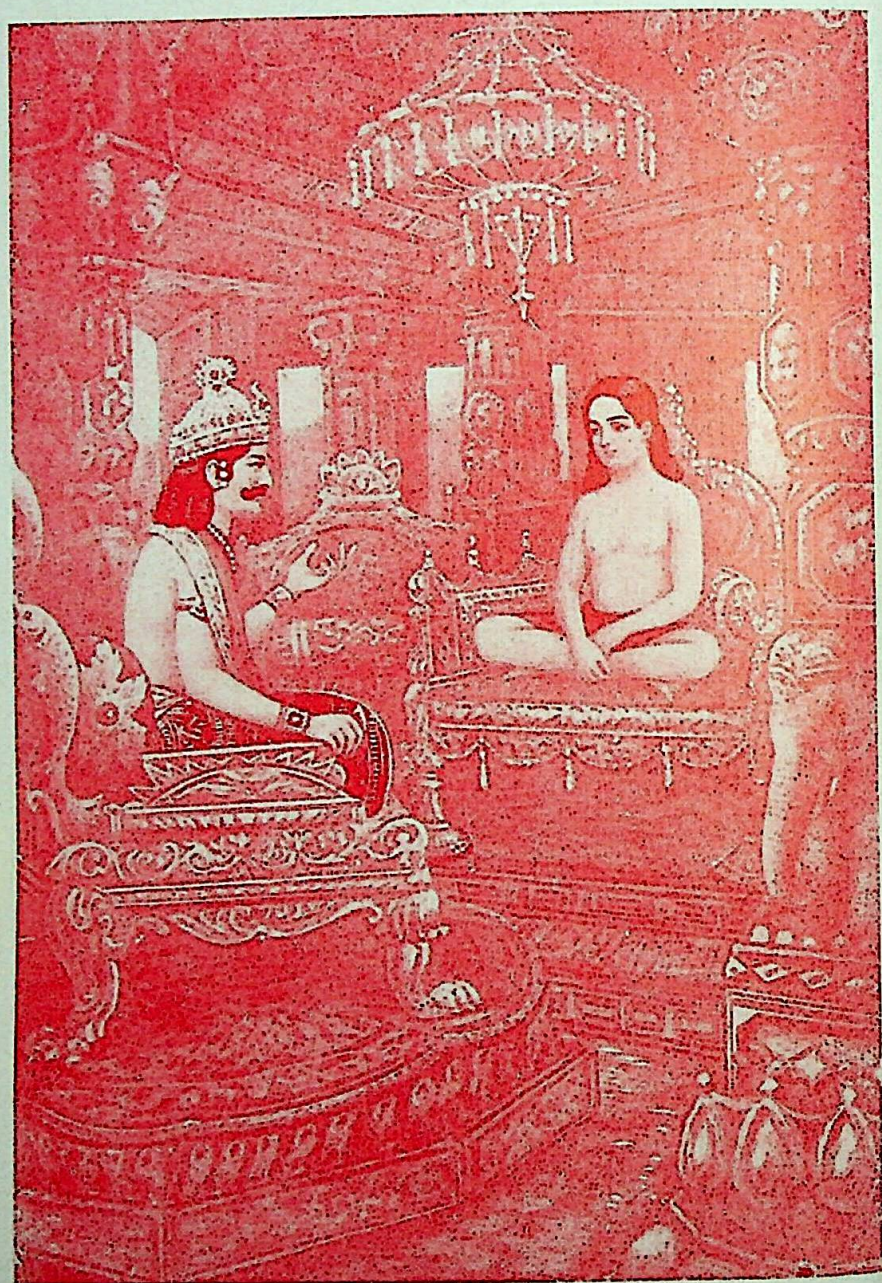
❀ जनक-अष्टावक्र-संवाद ❀

अष्टादशोऽध्यायः

सुषुप्ति से समाधि का अन्तर

अविद्यया प्रावृतचित्तवृत्तिः ।
भवेत्सुषुप्तिर्नचिदात्मभासः ।।
प्रकाश चैतन्य युतः समाधिः ।
कथं सुषुप्तिर्हि समाधितुल्या ।। १८ ।।

श्री वेदव्यास द्वारा अष्टावक्र और गार्गी का आख्यान सुनकर सूत जी परम हर्षित हो गये । उनके नेत्र आनन्दाश्रु से आपूर्ण हो गये । वह बोले—भगवन् ! आपने परम पावन आख्यान सुनाया है, कृपा करके यह बतलाइये कि राजा जनक से अष्टावक्र ने क्या क्या प्रश्न किये और उनके उत्तर जनक जी ने क्या दिये ?

श्री व्यास जी बोले—हे सूत ! गार्गी के चले जाने पर अष्टावक्र राजा जनक के समीप गये और इसी महत्वपूर्ण विषय पर प्रश्न करने लगे । वे बोले—"हे राजन् ! तपस्विनी ने ज्ञेय अज्ञेय का जो वर्णन किया है वह मेरे समझ में ठीक से नहीं आया । आप सुलभ रीति से उसे समझाइये ।" राजा जनक उसके प्रश्नों का उत्तर देने लगे । "अष्टावक्र ! तेरा प्रश्न यही तो है कि वह पद ज्ञेय और अज्ञेय कैसे है ? तू इस प्रकार समझ कि वह पद ज्ञेय भी नहीं है और अज्ञेय भी नहीं है । यदि वह सर्वथा अज्ञेय होता तो सद्गुरू उसके सम्बन्ध में उपदेश कैसे करते ? सद्गुरू उपदेश करते हैं और उस परम पावन पद को दिखाते हैं अतः यह अज्ञेय नहीं । मन, बुद्धि से

परे है। साधारण ज्ञान से समझ में नहीं आता अतः ज्ञेय नहीं है। यह पद कठिन भी है और सरल भी है। जिसकी दृष्टि वाह्य पदार्थों से विरत हो गई है उसके लिये वह सुलभ है और जिसकी दृष्टि वाह्य विषयों में लगी है, उसके लिये वह दुर्लभ है। सत्य तो यह है कि वह न तो जानने योग्य है, न निरूपण योग्य। वह अप्रत्यक्ष रूप से बताया जाता है। तू जो यह दृश्य देख रहा है, उससे ज्ञात होने के कारण वह वेद्य है। अतः तू उन्हीं का सूक्ष्म विचार कर जो भासमान होते हैं। यह भान शक्ति, ज्ञान कला अथवा भास भासित होने वाले अनेक आकारों से भिन्न है। और सब प्रकार से साकार भानों का आश्रय है। यही परम पद है। अष्टावक्र! विचार कर, जो ज्ञेय है, वह ज्ञान नहीं, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित नहीं होता। वेद्य अथवा ज्ञेय पदार्थ जिसकी सहायता से जाने जाते हैं वह संवित् स्वयं वेद्य नहीं है। उस वेद्य से वह भिन्न है। वेद्य का स्वरूप भिन्न भिन्न है परन्तु इस स्वरूप विभिन्नता से संवित् में कहीं कुछ भी भेद उत्पन्न नहीं होता। यह पद सभी आकारों में एक रूप रहता है। भेद वेद्य का स्वभाव है, संवित् का नहीं। वेद्य (संसार) में अनेक आकार भासित होते हैं अतः आकार रहित संवित् को वेद्य पदार्थ से पृथक् करके अन्वेषण कर। यह संवित् (ज्ञान) वेद्यत्व को दूर करने पर निःसङ्कल्प अवस्था में अनुभवगम्य हो जावेगा। अन्यथा इसका अनुभव हो ही नहीं सकता। प्रतिबिम्ब का अनुकरण करने वाले दर्पण की भाँति यह शुद्ध चिति दृश्य का आकार धारण कर अनेक रूपवती होती है। परन्तु जानने वाले का संवित् स्वरूप होने के कारण वह ज्ञेय जानने योग्य नहीं है। अतः प्रथम तो इस प्रकार से अपने स्वरूप की सूक्ष्म दृष्टि से खोज कर। प्रथम यह देख कि तू शरीर, प्राण, मन नहीं है क्योंकि यह अस्थिर, अनित्य हैं। तू नित्य है। सप्त धातुओं का पिण्ड यह शरीर तेरा स्वरूप कैसे हो सकता है। और जब वह "मेरा" रूप से अन्य विषय होकर भासित होता है तब वह अहम्भावना से मुक्त रहता है। अर्थात् मेरा शरीर कहते

समय उस पर अहम्भाव नहीं रहता। विचार द्वारा यही बात प्राण और मन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परम चैतन्य अहं की स्फूर्ति को कभी नहीं छोड़ता अतः यही संवित् सर्वज्ञ है। जो उत्तम विद्वान् होते हैं वे तत्वोपदेश काल में ही स्वस्वरूप का दर्शन कर लेते हैं। यहाँ दर्शन का अर्थ चर्म चक्षु से नहीं, मानस चक्षु से है। जिससे स्वप्न देखा जाता है वही सत्य चक्षु है। इस चक्षु की अन्तर्मुखता करने पर स्वस्वरूप का दर्शन होता है। व्यवहार में देखो। जब तक दृष्टि अन्तर्मुख नहीं होती तब तक कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। जो वस्तु देखनी होती है तो अन्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर उसी वस्तु पर लगानी पड़ती हैं। इन्द्रिय के साथ मन भी वस्तुओं को त्याग कर उस पर लग जाता है। अन्यथा सम्मुख रहने पर भी वह वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। अर्थात् भासित होने पर भी उस पर ध्यान न होने से अभासित सी ही रहती है। यही दशा कर्ण, जिह्वा, नासिका आदि की है। मन को होने वाले सुख दुख के अनुभव के लिये भी अन्तर्मुखता अपेक्षित है। अतः जो जानता हो उस पर "एकपरता" होना दृष्टि की अन्तर्मुखता है। अन्तर्मुखी शुद्ध चित्त, स्वस्वरूप का ज्ञान करता है। इसी विषय को और भी स्पष्ट कर रहा हूँ।

चिदात्म तत्व मन से ही गोचर और मन से ही अगोचर है। इसे समझने के लिये वेदशास्त्रों का विचार करने वाले पण्डित भी भ्रम में पड़ जाते हैं।

किसी भी वाह्य पदार्थ को मनोगोचर करने लिये के दो क्रियायें होती हैं। एक तो अन्य पदार्थों से मन को हटाना, दूसरी ज्ञेय वस्तु पर उसका लग जाना। अन्य पदार्थों से मन को हटा लेने पर तटस्थ अवस्था में इच्छित पदार्थ नहीं दृष्टिगोचर होता, उसे देखने के लिए उस पर तत्पर होना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार से सभी पदार्थ इन दो क्रियाओं के योग से भासित होते हैं। शुद्ध चैतन्य

मर्यादा रहित है अतएव उसका दर्शन इस प्रकार से नहीं हो सकता। अन्य पदार्थों के भाव को त्याग करने पर अधिक कुछ किये विना ही वह प्रतीत होने लगता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखना है तो अन्य पदार्थों को हटा कर विशिष्ट पदार्थ को सामने लाना पड़ता है, परन्तु आकाश का प्रतिबिम्ब देखने के लिये उसे लाना नहीं पड़ता। अन्य पदार्थों के हटने पर वह स्वयं प्रतिविम्बित हो जाता है। क्यों कि वह सर्वत्र व्यापक है और दर्पण में वह आकाश रहता भी है। दूसरे प्रतिविम्बों से आच्छादित होने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। सब में अनुगत और सर्वाश्रय होने के कारण अन्य पदार्थों को दूर करते ही वह दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी प्रकार सर्वगत, सर्वाधार, सर्वकाल में एक रूप रहने वाला शुद्ध चैतन्य दर्पण के आकाश की भाँति हृदय में पूर्णतया स्थित है। मन को अन्य पदार्थों से हटाते ही उसका अनुभव होने लगता है। किसी अन्य पदार्थ को मन के सम्मुख लाने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि वह किसी पदार्थ की भाँति विशिष्ट आकार न होने के कारण वेद्य नहीं है। वह स्वभावतः शुद्ध मन के अनुभव में आ जाता है। अतएव उसे वेद्य भी कहते हैं। मन के अन्य आकार सङ्कल्प का नष्ट होना ही उसकी शुद्धि है। स्वस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये यही मुख्य साधन है। जब तक चित्त शुद्ध नहीं तब तक ज्ञान होना असम्भव है। और शुद्ध अन्तः-करण में ज्ञान प्रकट हुये बिना नहीं रह सकता। इस तत्व को प्राप्त करने में अन्य सब उपाय क्षीण हो जाते हैं। कर्म, उपासना, वैराग्य आदि अनेक मार्ग चित्त शुद्धि के लिये ही बनाये गये हैं। इनका दूसरा कोई उपयोग नहीं है। हे अष्टावक्र! शुद्ध चित्त से ही उस परम पद का अनुभव कर।

इसे सुनकर अष्टावक्र बोले—"महाराज! अन्य पदार्थों से मन के हट जाने पर ही उस परम चैतन्य का अनुभव होने लगता है तो

निद्रा वस्था में मन सब से पृथक होता है तो उस दशा में उसका स्वयं ही अनुभव क्यों नहीं होता ? मन के अन्य पदार्थों का अभाव ही स्वरूपानुभूति में कारण है तब तो सुषुप्ति में ही मनुष्य कृतार्थ हो जाना चाहिये ?"

अष्टावक्र की बात सुनकर राजा जनक मुस्कराये और बोले—"अष्टावक्र सुन ! निद्रा में मन अन्य पदार्थों से पराङ्मुख रहता है, यह सत्य है । किन्तु उस समय उस मन का 'मन पन' तम से ग्रसित रहता है । अतः वह अपने स्वरूप को व्यक्त करने में असमर्थ है । जैसे दर्पण पर काजल पोत देने पर" अन्य पदार्थों को हटा देने पर भी आकाश नहीं दिखाई पड़ता वैसे ही सुषुप्ति में वाह्य परावृत्त मन चैतन्य का अनुभव नहीं कराता । अन्यथा बालकों को भी अपने स्वरूप का अनुभव होना चाहिये । अतः यह सिद्ध है कि स्वरूप दर्शन केवल शुद्ध निस्सङ्कल्प मन से ही होता है । बच्चों का मन शुद्ध निस्सङ्कल्प होने पर भी अज्ञान तम से आच्छादित रहता है । उनके मन पर अज्ञान का प्रतिबिम्ब रहता है । जिस पर एक भी वस्तु का प्रतिबिम्ब है, उसमें चैतन्य भासित नहीं होता । दर्पण पर काजल पोतने से दर्पण में पूरा पूरा काजल का प्रतिबिम्व पड़ जाता है । परन्तु ऊपर काजल पुते होने के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं होता । एक वस्तु के प्रतिबिम्ब ने दर्पण को आवृत कर लिया है तो उसमें आकाश कैसे प्रतिबिम्बित होगा । यही बात सुषुप्ति में है । उस दशा में मन निःसङ्कल्प होकर भी अज्ञान के कारण व्यर्थ सा होता है, उसमें चैतन्य देखने की शक्ति नहीं रहती । वस्तुतः मन अन्य पदार्थों से निवृत्त होने पर भी उनसे निवृत्त नहीं है । संस्कार रूप से उसमें सभी पदार्थ रहते हैं । यही कारण है कि जाग्रत होते ही निद्रा का स्मरण होता है और उस अवस्था में अज्ञान का भी अनुभव होता है । इस विषय को एकाग्र होकर सुनो ।

मन की दो स्थितियाँ हैं । एक प्रकाशावस्था और दूसरी विमर्शावस्था । जब मन वाह्य पदार्थों से विश्रान्ति लेता है अर्थात् सर्व

संकल्प रहित रहता है तब प्रकाशावस्था होती है। और जब उसके सम्वन्ध में सङ्कल्प होते रहते हैं तब विमर्शावस्था होती है। प्रकाशावस्था में पदार्थों का कुछ भी भेद नहीं प्रतीत होता। उस समय मन निर्विकल्प स्थिति में रहता है। विमर्शावस्था में पदार्थो का विमर्श अथवा विचार होते रहते हैं। इस समय मन की सविकल्प अवस्था रहती है। "यह अमुक है" का भेद उत्पन्न होने पर चित् पदार्थ का दर्शन रूपी प्रकाश निर्विकल्प रहता है। इस अवस्था के आधार पर प्रकट होने वाला "यह अमुक है" का भेदात्मक विमर्श सविकल्पक रहता है। विमर्श दो प्रकार का होता है एक "अभिनव आभास" और दूसरा "स्मृति रूपी।" प्रथम का स्वरूप नये नये अनुभवों में पाया जाता है। दूसरा पूर्व अनुसंधानात्मक होता है। इस प्रकार से मन सदैव इन दो शक्तियों से युक्त रहता है। निद्राकाल में जो निर्विकल्प ज्ञान रहता है वह सुषुप्ति अवस्था में निर्विकलपता अतिशय कूट कूट कर भरी रहती है अतः इसे मूढ़ दशा कहते हैं। वह दीर्घ कालिक होती है। जाग्रत में अनेक सविकल्प भाव रहते हैं। अतः इसे अमूढ़ दशा कहते हैं। इसी कारण विद्वानों ने निश्चय किया है, यद्यपि दीपक में पूर्ण प्रकाश भरा रहता है, तथापि उसमें विमर्श भाव के कारण वह मूढ़ दशा में होता है। शुद्ध चैतन्य से पूर्व प्रकट होने वाला वाह्य भास अव्यक्त तत्व अथवा महाशून्य निन्द्रा का स्वरूप है। "कुछ भी नहीं है" कि सर्व सामान्य भावना दृश्यभास का अभाव ही सुषुप्ति और निर्विकल्पता है। जाग्रत अवस्था में पदार्थों का दर्शन होते समय भी एक क्षण के लिये मन निर्विकल्प अवस्था में रहता है। परन्तु दूसरे ही क्षण विकल्प प्रकट होने के कारण वह अवस्था दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाती है विवेकी पुरुष कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में अव्यक्त शक्ति की निर्विकलपता की दृढ़ता के कारण मन विलीन होता है। पदार्थ को देखते रहने पर भी मन उस समय के लिये लीन ही रहता है। अष्टावक्र ! मैं तुझे अनुभव का रहस्य बताता हूँ।

(१) निर्विकल्प समाधि (२) सुषुप्ति (३) पदार्थ दर्शन, तीनो निर्विकल्प दृष्टि से एक ही प्रकार में सम्मिलित हैं। एक पदार्थ को त्याग कर दूसरे पर जाते समय मन यद्यपि गति दशा में रहता है तथापि एक ही पदार्थ में लगे रहने के कारण वह विकल्प रहित ही होता है। अतएव संसार में दिखाई पड़ने वाले यह तीनों भेद स्वरूपतः न होकर भास्य के भेद के कारण हुये हैं। समाधि में केवल चैतन्य भासित होता है। सुषुप्ति में अव्यक्त का अनुभव होता है और पदार्थ दर्शन काल में मर्यादित आकार का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि भास्य ही तीन प्रकार का होता है। परन्तु यह भेद होने पर भी ज्ञान केवल ज्ञान (शुद्ध चैतन्य) स्वयं निर्विकल्प ही है। अतः उसे "प्रकाश निविड़" कहते हैं। इसका अर्थ निर्विकल्पता से पूर्ण व्याप्त है। इसमें समाधि और सुषुप्ति स्थितियों का अधिक समय तक भासित होने के कारण वह सब को इसका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। परन्तु पदार्थ दर्शन में क्षणिक भास होने के कारण वह सबको स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। यदि समाधि और सुषुप्ति की भी स्थितियाँ क्षणिक होतीं तो उसका भी स्पष्ट ज्ञान न होता। यदि सुषुप्ति क्षणिक हो तो सूक्ष्म तत्ववेत्ता दीर्घ सुषुप्ति के अनुभव के आधार पर उसे जान लेते हैं। परन्तु पहचान न रहने के कारण लोग सूक्ष्म समाधि को नहीं जान सकते। व्यवहार दशा में भी प्राणियों को अल्पकालिक समाधि (निर्विकल्पता) अवश्य प्राप्त होती है। परन्तु परिचय न होने के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। जाग्रत अवस्था में जो विमर्श शून्य (सङ्कल्प शून्य) अवस्था होती है उसे समाधि कहते हैं। विमर्श का नाश ही समाधि है। सुषुप्ति अवस्था में और पदार्थ दर्शन अवस्था में भी समाधि होती है। परन्तु वह समाधि मुख्य नहीं है। क्यों कि भेद का अनुभव कराने वाले विमर्श के संस्कार उस समय गर्भ में रहते हैं। उस अवस्था के अनन्तर वह संस्कार उदय हो जाते हैं। जाग्रति में होने वाला पदार्थभान भी अविमर्श स्वरूप अर्थात्

निःसङ्कल्प ही रहता है। प्रथम "कुछ भी नहीं है" के रूप में प्रकट होने वाला अव्यक्त तत्व जिसका सामान्य स्वरूप है। उसका भान अत्यन्त अभाव रूप नास्तिता ही है। चैतन्य की जड़ शक्ति सुषुप्ति है। सुषुप्ति में कुछ भी नहीं है ऐसी स्थिति भासमान होती है उसके कारण में निर्विकल्प ज्ञान रहने पर भी वह जड़ सिद्धि होती है। परन्तु समाधि में भासमान होने वाला चैतन्य ब्रह्म स्वरूप है। वह तत्व सब देश, काल की मर्यादा से रहित और "कुछ भी नहीं है" के भास का भी नाश करने वाला सर्वथा अस्तित्व रूप है। हे अष्टावक्र! फिर निद्रा ही को ब्रह्म कैसे कह सकते हैं? तेरे कथनानुसार केवल निद्रा में मनुष्य कैसे कृतार्थ हो सकता है? अब तो तुम सुषुप्ति और समाधि का अन्तर समझ ही गये हो।

राजा जनक के तत्वपूर्ण भाषण से अष्टावक्र परम प्रसन्न हुआ।
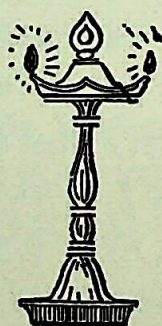
एकोनविंशतिरध्यायः

ज्ञान की पराकाष्ठा

चैतन्य पूर्णोऽस्मि स्वभावतोऽहम् ।
तस्मान्निरोधे मनसः क्व लाभः ।।
सर्वत्र शुद्धोऽस्मि विनिश्चयो मे ।
कार्ये समाधावपि तुल्य रूपः ।। १९ ।।

परम ज्ञानी अष्टावक्र जनक से पुनः कहने लगा—महाराज ! आप कहते हैं कि व्यवहार कार्यों में भी छोटी छोटी अल्पकालीन समाधियाँ होती हैं। वह समाधियाँ किन अवसरों पर और कैसे होती कृपया आप इस रहस्य को विस्तारपूर्वक समझाइयेगा।

प्रश्न सुनकर राजा जनक बोले—हे अष्टावक्र सुन ! जिस स्त्री पर अत्यन्त प्रेमासक्ति हो उसके प्रथम गाढालिङ्गन के समय समाधि की स्थिति होती है। उस समय वाह्य एवं आभ्यन्तरिक कुछ भी भास नहीं होता। अथवा जब मानव के मन में किसी वस्तु की बहुत बड़ी इच्छा हो उसकी प्राप्ति में अथक परिश्रम भी किया गया हो और उसे निश्चय हो गया कि अब मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। ऐसी दशा में वही वस्तु अकस्मात् ही यदि प्राप्त हो जावे तो उस समय निर्विकल्प समाधि लग जाती है। जब मनुष्य निर्भय होकर आनन्द से कहीं जा रहा हो उस समय अकस्मात् यदि काल सदृश भयङ्कर हिंसक व्याघ्रादि दिखाई पड़े तब भी क्षण भर को समाधि दशा हो जाती है। जब मनुष्य निश्चिन्ततावस्था वस्थित

हो और उसे सुनाया जावे कि "तुम्हारा अत्यन्त प्रेम भाजन गृहस्थी का भार ढोने वाला हृष्ट पुष्ट पुत्र अकस्मात् मर गया है उस क्षण भी निर्विकल्पावस्था हो जाती है। उस अवस्था में अन्तर्वाह्य कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार की अनेक ऐसी अवस्थायें हैं जिन्हें समाधि दशायें कहते हैं। सत्पुरुष उसका अनुभव कर लेते हैं। यह समाधियाँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के सन्धिकाल में होती हैं। जब दूरस्थ वस्तु को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है तब मन दूरी पर चला जाता है। शरीर पर मन देहाकार रहता है और उस पदार्थ पर जाने से तदाकार हो जाता है। दोनों के मध्य की अवस्था में मन की निर्विकल्प स्थिति होती है। उसी अवस्था को ध्यान में रखने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

व्यवहार के किसी भी भाव में मन अखण्ड एकाकार नहीं होता। अनेक खण्डित भानों, ज्ञानों का समूह बन कर व्यवहार होता है। अतः स्वगत कणादि मतवादी कहते हैं कि आत्मा और बुद्धि प्रतिक्षण भिन्न भिन्न होती है। इस क्षणिक (खण्ड) ज्ञान के बीच में अर्थात् चित्त में से एक पदार्थ हटकर दूसरे पदार्थ आने तक निर्विकल्पता का अनुभव होता है। हे अष्टावक्र! विचारवान् व्यक्ति के लिये प्रतिक्षण समाधि है अन्यथा शशश्रृङ्गवत् वह कहीं भी नहीं है।

राजा जनक की बात सुनकर अष्टावक्र बोले—"राजन्! यदि व्यवहार में सब लोगों को समाधि प्राप्त हुआ करती है तो यह संसार अब तक कैसे चल रहा है? इसका लोप क्यों नहीं हो गया? सुषुप्ति अवस्था में अनुभव में आने वाले निर्विकल्प ज्ञान से जड़ अव्यक्त का भान होता है अतः इससे मोक्ष नहीं होता। परन्तु निर्विकल्प ज्ञान जो जाग्रत में होता है उससे शुद्ध चैतन्य का अनुभव होना चाहिये। उसके होने पर तो संसार की समाप्ति हो जानी चाहिये। निर्विकल्प समाधि मोक्ष की मूल और सब अज्ञान को नष्ट करने

वाला शुद्ध ज्ञान है। तब व्यवहार दशा में इन निर्विकल्पता की स्थितियों से मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त हो जाता।

राजा जनक बोले—अष्टावक्र! सुनो, मैं तुम्हें इसका रहस्य समझाता हूँ। यह संसार अनादि काल से अज्ञान में प्रवृत्त है। सुख दुखों के अनुभव से उसका प्रवाह सञ्चालित हो रहा है। सभी जीव स्वप्न की भाँति उसका अनुभव कर रहे हैं। उसका नाश ज्ञान से होता है। अज्ञान नाशक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान होना चाहिये। निर्विकल्प ज्ञान से अज्ञान दूर नहीं होता। निर्विकल्प ज्ञान स्वयं किसी का विरोधी नहीं। सविकल्प ज्ञान के आश्रय से नाना आकारों के भासमान होने के लिए वह अधिष्ठान है। निर्विकल्प ज्ञान का अर्थ केवल ज्ञान है। विकल्प उत्पन्न होने पर वह सविकल्प हो जाता है। इस दृष्टि से अज्ञान भी सविकल्प ज्ञान ही है। कार्य कारण रूपों से वह अनेक प्रकार का है। आत्म स्वरूप का विस्मरण कारण अज्ञान कहाता है। चिदात्मा परिपूर्ण है। उसे किसी मर्यादा का बन्धन नहीं है, मर्यादा करने वाले देश कालादि की भी सिद्धता उसी से होती है। ऐसा चैतन्य का जो अपूर्ण भान होता है अर्थात् अब ऐसा मालूम होता है कि "अब मैं यहाँ हूँ", "अब मैं वहाँ हूँ" वह कारण अज्ञान का स्वरूप है फिर देहादि के सत्व से उसका भास होना कारण अज्ञान की शाखा है। यह कार्य अज्ञान है। इस कारण अज्ञान के निवारण हुए बिना संसार लय नहीं होता और जब तक सर्वत्र परिपूर्ण भरे हुए आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञान नहीं हटता। आत्मस्वरूप का ज्ञान दो प्रकार का होता है। परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान सद्गुरू और शास्त्रों से होता है। परतु यह ज्ञान मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति करा देने में साक्षात्कारण नहीं होता। तुझे परोक्ष ज्ञान हुआ है यह स्पष्ट है। शास्त्रों और श्रद्धा से प्राप्त किया हुआ परोक्ष फलदायक नहीं होता। प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्ज्ञान समाधि के

परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। यह अज्ञान और अज्ञानजन्य संसार का नाश करने में समर्थ है। यह महाशुभ फल प्राप्त करने में समर्थ है। यह फल ज्ञानपूर्वक समाधि से मिलता है। यदि अज्ञ पुरुषों को समाधि हो जावे तो भी कुछ लाभ नहीं, जैसे रत्न की पहचान न करने वाला मनुष्य खजाने में प्रत्यक्ष रत्न को तो देखता रहता है परन्तु यह जानता नहीं कि वह रत्न देख रहा है। जिसे रत्न का ज्ञान रहता है वह उसे देखते ही समझ जाता है। मनुष्य बड़ा चतुर हो, रत्न पारखी हो, रत्न सामने रक्खा भी हो तो भी उसको ध्यान न होने पर उसकी पहचान नहीं कर सकता। अष्टावक्र ! इसी तरह यदि अज्ञान के कारण विज्ञान जन्य महाफल मूर्खों को न मिले तो क्या किया जा सकता है। कुछ पण्डितों ने इस विषय में बहुत सा मनन किया है। परन्तु इस विषय में सच्ची आस्था न रहने के कारण उन्हें भी यह ज्ञान नहीं होता। वे कोरे ही रह जाते हैं। उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य आकाश को तो प्रत्यक्ष देखता है, परन्तु वह इतना नहीं जानता कि उसने "अमुक तारा" देखा है। अथवा वह उसका चिह्न नहीं जानता या जानकर भी नहीं मानता। शुक्र तारे की ही बात ले लो। जो कोई चाहता है कि वह मुझे दिखाई पड़े, वह यह जान लेता है कि वह किस दिशा में रहता है, कितना बड़ा है आदि। और फिर उसके पीछे लग कर उसे शीघ्र पहचान भी लेता है। साराँश यह है कि अज्ञान होने और उत्सुकता न होने के कारण बारबार निर्विकल्प समाधि होने पर भी मूर्ख लोग आत्मस्वरूप को जान नहीं सकते। पास के खजाने को भूल कर दुर्भाग्य वश भीख माँगने वाले पुरुष की तरह भटकते भटकते वह हास्यास्पद हो जाते हैं। फलतः वह व्यवहार के समय में अनुभव में आने वाली क्षणिक समाधि की सब अवस्थायें संसार को छुड़ाने में निरुपयोगी हो जाती हैं। इसी कारण से निर्विकल्प स्थिति रहने पर भी बालकों को अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अष्टावक्र ! आत्मस्वरूप को

पहचानने के लिए जो ज्ञान आवश्यक है उसे सविकल्प होना चाहिये। संसार के बीजरूप अज्ञान को वही दूर कर सकता है। अनेक जन्मों के पुण्य उदय होते हैं तब संसार से मुक्त होने की इच्छा होती है, नहीं तो करोड़ों कल्प यों ही बीत जाते हैं। पहले तो प्राणियों में जन्म ही मिलना कठिन है, फिर उनमें भी मनुष्य जन्म पाना बड़ा ही दुर्लभ है, फिर सूक्ष्म बुद्धि का मिलना और भी अधिक दुर्लभ है। इस संसार में स्थावरों में एक शतांश भी चेतन देख नहीं पड़ते और मनुष्यों का परिमाण समस्त प्राणियों से तो अत्यन्त न्यून है। और फिर उनमें भी पशु मनुष्य असंख्य हैं। वे न तो बुरा भला जानते और न पाप पुण्य जानते हैं। शेष में असंख्य लोग विषय सुखों के पीछे दौड़ रहे हैं। पाण्डित्य के भ्रम से अभिमान् हो जाने के कारण उन्हें बार बार जन्म लेना पड़ता है। उनमें से बहुत से बुद्धिमान् भी होते हैं। परन्तु उनके चित्त की मलीनता पूरी पूरी नष्ट न हुई रहने के कारण उन्हें अद्वैत आत्मपद कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है और वह नास्तिक हो जाते हैं। यह ठीक भी है क्यों कि अद्वैत परम पद ईश्वर की माया से अन्धे बने हुए हैं। अभागे लोग उसे कैसे पा सकते हैं। यह परमपद माया मुग्ध पुरषों की बुद्धि में नहीं आता। कुछ आदमी ऐसे वर्णसङ्कर होते हैं कि उस पद को समझकर भी एक निराले मत का अभिमान कर कुतर्क करते रहते हैं। ओह ! यह माया कितनी प्रबल है कि मानव उस पद को प्राप्त कर भी कुतर्क द्वारा चिन्ता-मणि सदृश पद को स्वयं फेंक देते हैं। जो भाग्यशाली पुरुष इस माया जाल से मुक्त सद्विचार और श्रद्धा का आश्रय लेते हैं, उन्हें अद्वैत पद पर निष्ठा हो जाने से परम पावन पद मिल जाता है। हे अष्टावक्र ! इसका रहस्यमय क्रम मैं सुना रहा हूँ।

अनन्त जन्मों के पुण्य से देवता पर भक्ति होती है। जिससे उसकी आराधना दीर्घ काल तक होती है। दीर्घ कालीन आराधना

से विषयों के सम्बन्ध में वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उस परम पावन पद की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठा उद्भूत होती है और वह तत्पर होता है। अनन्तर विषय वैराग्य और पद प्राप्ति की सच्ची उत्कण्ठा को शोभा देने योग्य श्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रसङ्गवश सद्गुरू से भेंट होती है। उनके उपदेश से अद्वैत पद का ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान परोक्ष ही रहता है अर्थात् इस समय केवल यह भरोसा उत्पन्न हो जाता है कि अद्वैत पद है अवश्य फिर साधक को उस अद्वैत आत्मस्वरूप का सम्यक् विचार करना पड़ता है। अनन्तर सुविचार की सहायता से क्रमशः उसकी उत्पत्ति विदित होने लगती है। सब सन्देह नष्ट हो जाते हैं और निश्चित किये हुये आत्मस्वरूप अद्वैत तत्व का बड़े दृढ़ निश्चय से "निदिध्यासन" करना पड़ता है। दीर्घ प्रयत्न और वलात्कार से चित्त को लगाकर एकाग्र और तदाकार रखना पड़ता है। फिर वह तत्व "मैं ही हूँ", का प्रकाश पूर्ण सविकल्प ज्ञान से जब निदिध्यासन पूर्ण हो जाता है, तब यह संसार का कारण अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब विकल्प रहित ज्ञान साध्य होकर समाधि तक परिपक्व रहता है तब अद्वैत का साक्षात्कार होता है। उसके आगे केवल "स्मृति" होते ही उस पद का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। वह अद्वैत परमात्मा "मैं ही हूँ" ऐसा सविकल्प ज्ञान जब प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है तब सारा अज्ञान तत्क्षण नष्ट हो जाता है। विकल्प का न होना ही ध्यान की परिपक्व दशा है। विकल्प कई प्रकार के होते हैं। निर्विकल्प स्थिति एकाकार रहती है। अन्य भावनाओं का उदय होना छूटने पर विकल्प का अन्त होता है। विकल्प का अन्त हो जाने पर निर्विकल्प अवस्था का होना स्वयं सिद्ध है। विकल्प के त्याग ही का अर्थ निर्विकल्प शुद्ध आत्मस्वरूप सम्पत्ति है। इसी विषय में माया की प्रबलता होने के कारण बड़े वड़े विद्वान् भी मूढ़ हो जाते हैं। परन्तु उत्तम बुद्धिमानों को इस पद का ज्ञान क्षण भर में हो जाता

है । अष्टावक्र ! अधिकारी पुरुष उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार के होते हैं । उत्तम लोग उपदेश के समय ही उस आत्म स्वरूप को पहचान जाते हैं । उनका विचार और ध्यान दोनों सुनते सुनते ही होता है । ऐसे अधिकारियों को उस पद के प्राप्ति में कष्ट नहीं होता । तुम अब मेरे इतिहास को सुन लो :

गर्मी के दिन थे । भूमण्डल में चाँदनी फैली हुई थी । मैं एक रमणीय बगीचे में एक पलङ्ग पर अपनी स्त्री के साथ बैठा था । उसी समय मुझे आकाश में अद्वैत तत्व सम्बन्धी सिद्धगण का मधुर भाषण सुनाई पड़ा । मुझे यह पद तत्काल समझ में आ गया । अष्टावक्र ! मैंने उतने ही समय में विचार किया, ध्यान भी किया और अन्त में आत्मस्वरूप को जान भी लिया । इस प्रकार अर्ध मुहूर्त में उस पद के ध्यान में आजाने पर फिर आगे मुझे एक मुहूर्त तक निर्विकल्प समाधि हो गई । मैं आनन्द के समुद्र में डूबने उतराने लगा । कुछ देर सावधान होकर मैं मन ही मन कहने लगा कि अहा, हा ! परमानन्द से भरा हुआ अद्भुत और अपूर्व स्थान आज मुझे मिला है । मैं फिर उसी में प्रवेश करूँगा । इन्द्रादिकों का स्वर्गीय सुख भी उसके अंश के बराबर भी नहीं है । सारे ब्रह्मलोक का भी सुख उसके सामने कोई वस्तु नहीं है । मेरे इतने दिन व्यर्थ बीत गये । अपने कोष को न जानकर मूर्ख जैसे भीख माँगते फिरते हैं । उसी तरह लोग परमानन्द को न जानकर भ्रान्ति से जी तोड़ परिश्रम करते हैं । और एक कौड़ी मूल्य के बाहरी विषय सुख का सम्पादन करते हैं । यह बड़े आश्चर्य की बात है । मैंने बाहरी क्षुद्र सुखों के लिये बहुत श्रम किया है । अब मैं उस असीम आनन्द के सेवन करने के लिये बिल्कुल तत्पर रहा करूँगा । बाहरी व्यवहार बिल्कुल निस्सार हो चुके अब पिष्टपेषण करने से कोई लाभ नहीं । फिर फिर वही अन्न, वही पुष्पमाला, वही बिछौने, उनमें नयापन क्या है ? फिर इनमें स्वाद क्या है । अलङ्कारों और स्त्रियों का

भोग भी वही बात है। पहले उन्हीं का सेवन और अब भी उनका सेवन हो रहा है। इसमें क्या अर्थ है? सारी दुनियाँ इसी मार्ग से चल रही है। अतएव आज तक इन पर घृणा नहीं मालूम होती थी। वाह रे मोह!

अष्टावक्र! इस तरह से इस वाह्य संसार का तिरस्कार कर मैं फिर अन्तरमुख होने की तैयारी करने लगा। उसी समय मुझे एक शुभ विचार सूझ पड़ा। मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे चित्त को यह कैसा मोह हो गया है। आनन्द से पूर्ण भरा हुआ आत्मा तो "मैं ही हूँ" फिर कुछ करने का विचार मन में क्यों कर रहा हूँ" मुझे अब क्या प्राप्त करना है। पहले मुझे अप्राप्त ही क्या है? और वह सब कहाँ मिलेगा? और कैसे मिलेगा? यदि जो आज अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कल हो गई तो क्या हुआ? वह स्थिर कैसे रह सकेगा? परन्तु पहले मेरे अनन्त चैतन्य स्वरूप में क्रिया ही कैसे हो सकेगी? देह, इन्द्रियाँ और मन तो स्वप्न सरीखे मिथ्या हैं। और उसी तरह मैं जब अखण्ड एकरस चिदात्मा हूँ तो वह सभी मेरे हैं। फिर एक अन्तःकरण को निरुद्ध करने से क्या? और निरुद्ध न होने वाला मन क्या किसी दूसरे का है? वह तो मेरा ही है। संसार के निरुद्ध, अनिरुद्ध सभी मन मुझमें भासित होते हैं। फिर एक ही मन के निरोध करने का यह मोह क्या हो गया है। उनके सिवा मेरा स्वरूप ऐसा है कि सब मनों का निरोध करने पर भी मेरा निरोध हो ही नहीं सकता। मैं महाकाश से भीविस्तृत हूँ। मेरा निरोध कहाँ से हो सकता है। इसी तरह मेरे पूर्ण आनन्द स्वरूप में समाधि कैसे होगी। चिदानन्द से भरे हुए आकाश से परिपूर्ण मेरी आत्मा का शुभ अथवा अशुभ करने वाली कौन सी क्रिया हैं, वह कैसे हो सकती है? मेरे ही सामर्थ्य से देहात्मकत्व के करोड़ों भास होते हैं। यदि उससे कुछ अधिक आभासात्मक क्रियायें भासमान होने लगीं तो क्या है? और न हुई तो क्या है? मेरा न

कर्त्तव्य है और न अकर्त्तव्य है। फिर निरोध से क्या लाभ? सत्य और पूर्ण स्वभाव वाला मैं समाधि अथवा उत्त्थान अवस्था में सदैव आनन्द पूर्वक रहता ही हूँ फिर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब पूर्व संस्कार से स्वभावतः जिस कर्म में विषय में, अथवा विचार में प्रवृत्त होते हैं उसमें उन्हें प्रवृत्त होने दिया जावे। वह जिससे स्वभावतः निवृत्त होते हों उस कर्म विषय विचार से उन्हें निवृत्त होने दिया जावे। उनकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति मेरे निःसङ्ग, चिदानन्दपूर्ण और सर्वगामी आत्मा का क्या लाभ है, अथवा क्या हानि हो सकती है? अष्टावक्र! इस प्रकार से स्वस्वरूप का अनुसन्धान कर चुकने पर मुझे सदैव स्वस्थता और परमानन्द मिल रहा है। मेरे प्रकाश का अन्त नहीं है। मैं अत्यन्त परिपूर्ण और सर्व सङ्ग रहित हूँ। मैंने तुम्हें उत्तम अधिकारियों की स्थिति बतलाई है। मध्यम अधिकारियों की स्थिति क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से होती है। फिर उन्हें ज्ञान उत्पन्न होता है। कनिष्ठ अधिकारियों को साधन की पूर्णता होने पर अनेक जन्मों में ज्ञान प्राप्त होता है। साधारणतः ज्ञानयुक्त समाधि दुर्लभ होती है। अतएव ज्ञानरहित ऐसी सैकड़ों समाधियों से कुछ नहीं होता उनका कुछ भी उपयोग नहीं है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि राह चलते चलते मन की निर्विकल्प अवस्था में अनेक पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। परन्तु मन में उनकी कल्पना न होने के कारण उन्हें देखने पर भी उनके सम्बन्ध का ज्ञान ज्यों का त्यों रहता है। इसी तरह से छोटी बड़ी समाधियाँ आत्मस्वरूप की पहचान न होने के कारण विफल हो जाती हैं। सब मर्यादित भानों का आश्रय होने के कारण सदैव भासमान होकर भी वह आत्मब्रह्म विकल्पों के कारण आच्छादन से भासित नहीं होता। विकल्पों का निवारण होने पर भासमान रहने वाला वही आत्मस्वरूप फिर भासित होने लगता है। शुद्ध निराकार ज्ञान और उसके आधार पर भासित होने वाले

साकार ज्ञेय के भेद को न जानने के कारण जो आत्मस्वरूप अज्ञात रहता है वही आत्म स्वरूप आगे स्वयं ज्ञात हो जाता है।

हे अष्टावक्र ! इस प्रकार मैंने तुम्हें आत्मज्ञान का व्यवस्थित क्रम सुना दिया है। अब तुम विचार द्वारा इस क्रम का आकलन (निश्चय) करलो। जब तुम्हें आत्मतत्व का प्रत्यक्षी करण हो जावेगा तब तुम कृतार्थ हो जावोगे।

इस प्रकार से उपदेश देकर राजा जनक ने अष्टावक्र को सादर विदा किया। अष्टावक्र ने मनन, निदिध्यासन से परमपद रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त. कर लिया। सर्व संशयों से मुक्त हो जीवन मुक्त दशा में वह रहने लगा।
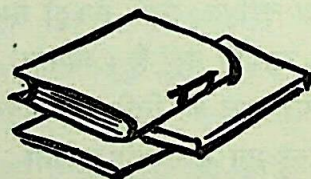
विंशतिरध्यायः

गूढ़ तत्व

गुह्याति गुह्यं भवता यदुक्तम् ।
चैतन्य रूपेण विभासमानम् ।।
दृश्यं प्रपञ्चश्च तदेक रूपम् ।
सर्वं न तद् बुद्धि पदं गतं मे ।। २० ।।

श्री वेदव्यास जी कहने लगे—हे सूत ! मैंने तुझे यह बतला दिया है कि "वेद्यवन्द्या" शुद्ध संवित् का अनुभव कैसे होता है ? वेद्य (दृश्य मायिक) रहित विशुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार किस क्रम से होता है । यह भी मैंने स्पष्ट रूप से समझा दिया है । इस ज्ञान प्राप्ति के अनेक अवसर व्यवहार में भी प्राप्त होते हैं । परन्तु मायामुग्ध मूढ़ मानव उनसे वञ्चित रहता है । इस तत्व का व्यवहार में प्रत्यक्षीकरण परमोच्च स्थिति वाला ज्ञानी पुरुष ही कर पाता है । अब मैं तुम्हें इसका सार बताता हूँ ।

समस्त "वेद्यवस्तु" (संसार) मन से जानी जाती है, मन वेद्य नहीं है । वेद्य पदार्थों का भान न रहने पर भी मन विद्यमान् रहता है । अतः मन को ही वेद्य रहित शुद्ध संवित् कहते हैं । उसका स्वरूप प्रकाश अथवा ज्ञान है । वह स्वयं प्रकाश है, उसे प्राप्त करने के लिये किसी अन्य प्रदार्थ की आवश्यकता नहीं होती । अन्यथा "अनवस्था" दोष उपस्थित हो जावेगा । प्रमाण को प्रमाणित करने के लिए अन्य प्रमाण की आवस्यकता होगी । तब प्रकाश के

स्थान पर अन्धकार ही शेष रहेगा। दूसरी दृष्टि से विचार करने पर भी यही भासित होता है कि अन्य किसी भी प्रदार्थ के भासमान होते समय तू स्वयं भासित होता है। इस प्रकार तू ही तू सर्वत्र भासित होता है। यदि सूत ! तुम यह विचार करते हो कि सामान्य रूप से भासमान होने वाला "मैं" विशेष रूप से भासमान् होने वाले अपने स्वरूप को नहीं जानता, तो यही उसका समाधान समझो कि सामान्यतः भासमान होना ही तेरा शाश्वत रूप है। क्या तू यह नहीं जानता कि तुझमें विशेष भावों का लेश भी नहीं है। पदार्थों को भासमान करने वाला ज्ञान विशेष आकार का रहता है। परन्तु तू सामान्य रूप ही है। और स्वयं अपनी शक्ति से भासित है। तू यह मत समझ कि मैं शरीर आदि के योग से भासमान हो रहा हूँ क्यों कि तू अनुभव करता है कि चित्त में शरीर आदि के सङ्कल्प बिना. भी मैं भासमान हो रहा हूँ। सूक्ष्म विचार से अपने अनुभव का स्मरण करो। शरीर का अध्यास त्याग कर जब तू अन्य सङ्कल्पों में निमग्न होता है तब क्या तुझमें शरीरत्व रहता है। उस समय तू सङ्कल्पमय होता है और सङ्कल्प रूप में ही तू भासित होता है। अतः सिद्ध हुआ कि सङ्कल्प ही तेरा स्वरूप है। और इस प्रकार विचार से तू सर्वात्मक हो गया, एक देहमात्र नहीं।

यह जो दृश्य है वह प्रपञ्चात्मक है वह तेरे स्वरूप से. भिन्न है क्यों कि वह दृश्य तेरे सङ्कल्प के साथ परिवर्तित होता रहता है। फलतः तू केवल दृङ्मात्र है। यह स्वरूप भूत 'दृक् देवता' स्वयं प्रकाश रूप है वह दृश्य रूप नहीं होता। यद्यपि वह दृक् शरीर एवं देशकाल के भेदात्मक चित्रों से सुशोभित है तथापि उसमें दृश्य भाव नहीं है। तू दृढ़ निश्चय के साथ समझ ले कि सङ्कल्पों को त्यागने पर जो 'शुद्ध चेतन' स्वरूप शेष रह जाता है, वही आत्मा है। उस का एक बार भी दर्शन हो जाने से अज्ञान का नाश हो जाता है।

उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष न भूतल पर है, न पाताल में, न आकाश एवं अन्तरिक्ष में है। सङ्कल्प का त्याग करने से चैतन्य शुद्ध स्वरूप का जो अनुभव होता है, वही मोक्ष है, वही जीवन का स्वरूप है। वह सभी स्थानों पर प्राप्त है, केवल मोह का निरसन (त्याग) करने से उसका अनुभव हो जाता है। स्वस्वरूपानुभव के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष नहीं है। स्वस्वरूप सर्वत्र व्याप्त है। यदि यह मान लिया जावे कि मोक्ष इस स्वरूप के अन्तर्गत सम्भव है तो यह समझना चाहिये कि दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति सद्रूप ही है। व्यवहार में मनुष्य बन्धन के नाश को मोक्ष कहते हैं। नाश अभावात्मक है। अतएव वह सत्य तत्व भावरूप नहीं हो सकता। यदि उसे भावाभावात्मक कहें, तो भी उचित नहीं क्यों कि ऐसा पदार्थ कोई होता नहीं। यदि स्वप्निल पदार्थों को उभयविधात्मक माना जावे क्यों कि अनुभव में आने के कारण वह सत्य है और जाग्रत में बाध हो जाने के कारण अभावात्मक भी हैं। तब भी उपयुक्त नहीं क्यों कि पदार्थ के अनुभव न होने का नाम बाध है और जिसका ऐसा बाध होता है वह असत्य है। और जिसका ऐसा बाध नहीं होता वह सत्य है। स्वप्न आदि दृश्यों का अनुभव नष्ट हो जाता है और उसका बाध हो जाता है। अतः स्वप्न सदृश भावाभावात्मक पदार्थों को असत्य समझना चाहिये। जिसे अभाव का स्पर्श भी नहीं होता वह चित्तत्व सर्वथा सत्य है। इस स्वरूप से अन्यत्र जो मोक्ष है वह असत्य है। इसके स्फुरण को ही मोक्ष कहते हैं। चैत्य (विषय) पदार्थों को दूर करने पर चैतन्य स्वयं परिपूर्ण है। चैत्य का आभास चिति का सङ्कोचन है। चैत्य के अभाव में चित्स्वरूप सर्व परिच्छेद शून्य और परिपूर्ण रहता है। उस स्वरूप के लिये जड़ चेतन किसी भी कालादि की मर्यादा नहीं होती। चिति पर जड़ अपनी मर्यादा डाल नहीं सकता। और चेतन पक्ष में तो यह चित्स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, उससे भिन्न कुछ नहीं। व्यवहार में भी भाव कालादिक की मर्यादा तभी स्थिति होती है

जब चैतन्य से व्याप्त होती है। उन पर चैतन्य की व्याप्ति न होने पर यह सिद्ध नहीं होता कि वे मर्यादित अथवा परिच्छेद्य हैं। क्यों कि उन्हें कोई जानेगा भी नहीं। यदि चैतन्य से भिन्न कोई हो तो कदाचित् उससे चैतन्य का परिच्छेद होता परन्तु चैतन्य से भिन्न चैत्य का सिद्ध होना सर्वथा असम्भव है। चैतन्य का अर्थ ज्ञान है। अतः ज्ञान से बाहर होने वाले का अस्तित्व कहाँ ? अब यदि यह माने कि किञ्चित् रूप से कालादि का जितने अंश में सम्बन्ध हो उतने अँश तक यह चित्स्वरूप से मर्यादित हो सकते हैं तो यह सम्भव नहीं है। क्यों कि कुछ अंशों में चैतन्य से सम्बन्ध होना मानने पर चैतन्य से सम्बन्ध न रखने वाले अन्य अंशों की सिद्धि नहीं होती। वे चैतन्य के बिना भासमान कैसे होंगे ? तात्पर्य यह है कि वाह्य पदार्थ भी चित्समुद्र में निमग्न हैं। सभी चैत्य जगत् चैतन्य के गर्भ में हैं फिर वे उसी के परिच्छेद कैसे हो सकते हैं। हे सूत ! चैत्यों का स्वरूप मिथ्या है। जो चैतन्य के भीतर भासित होते हैं। वे सब प्रतिविम्ब स्वरूप में हैं। व्यवहार में भी देखा जाता है कि एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ नहीं रह सकता। ऐसा होने पर सर्वत्र सांकर्य दोष उत्पन्न हो जावेगा। यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि बाह्य भास सब भ्रम मूलक हैं। अतएव चैतन्य के आश्रय से भासित होने वाले भिन्न भिन्न भाव स्वयं सत्य नहीं हो सकते। चैतन्य स्वरूप आतमा ही स्वतन्त्र शक्ति के द्वारा पदार्थों के आकारों के रूप में भासित होता है।

श्री वेदव्यास की मर्ममयी वातें सुनकर सूत जी को सन्देह हुआ वह बोला—गुरुवर ! आपकी सभी बातें असम्भव सी प्रतीत होती हैं। एक ही शुद्ध संवित् भिन्न-भिन्न आकारों में भासित होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। सबका अनुभव है कि संवित् और वेद्य दो वस्तुयें हैं। इन दोनों में संवित् स्वयं प्रकाश है यह तो उचित है, परन्तु चैतन्य की सहायता से प्रकाशित चेत्य (विषय) अथवा वेद्य तो

चैतन्य से भिन्न अवश्य है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि किसी प्रकार की सहायता से प्रकाशित होने वाली वस्तु उस प्रकाश से भिन्न रहती है। उसी प्रकार चैतन्य तत्व से भासित होने वाला चेत्य (विषय वस्तु) भी उससे भिन्न है। दोनों का एक होना सम्भव नहीं है। अनुभव में (चैत्य का चैतन्यात्मक होना नहीं आता) राजा जनक ने बताया कि सङ्कल्प के त्यागने पर मन निर्विकल्प अवस्था में होता है। उसी निर्विकल्प ज्ञान से संसार का नाश होता है। यही आत्म स्वरूप है। यह कथन सत्य होने पर भी कैसे सम्भव हो। ज्ञान होने अथवा कर्म करने के लिये आत्मा के समीप मन साधन है। यदि मन न हो तो आत्मा जड़ ही है। मन ही उसकी जड़ता को दूर कर विशेषता प्रदर्शित करता है। अतः आत्मा का बन्धन और मोक्ष मन से ही होता है। सङ्कल्प युक्त मन बन्धन और निसङ्कल्प मन मोक्ष है। तो फिर मन ही आत्मा कैसे हो सकता है ? मन साधन है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प अवस्था की सिद्धि होने पर मन के योग से फिर भी द्वैत रहता है।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि जिस विषय की भ्रान्ति होती है वह मिथ्या होता है। परन्तु उसकी भ्रान्ति मिथ्या नहीं होती। वह सत्य होती है। और जिस वस्तु का अभाव है उसका व्यवहार दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु संसार के सब पदार्थ स्थिर हैं प्रत्यक्ष कार्य रत हैं। तब वे असत्य कैसे कहे जा सकते हैं ? हाँ यदि असत्य सिद्ध होवे तब अद्वैत सिद्ध हो सकता है। जब सभी भ्रान्तिमय है तब भ्रान्ति अभ्रान्ति का भेद कैसे जाना जा सकता है ? भ्रान्ति भी विभिन्न रूप से क्यों होती है ? महाराज ! मेरी इन सभी शङ्काओं की निवृत्ति कीजिये।

इन प्रश्नों को सुनकर सर्वज्ञ वेदव्यास बड़े सन्तुष्ट हुये, वे कहने लगे—"हे सूत ! यद्यपि तुम्हारे प्रश्नों का साधारणतया उत्तर दिया जा चुका है तथापि तुम्हारे मन में उचित रूप से उतारने के लिये स्पष्ट रूप से यह बता रहा हूँ।"

प्रत्येक जीव की बुद्धि भिन्न-भिन्न रहती है और प्रत्येक का भिन्न-भिन्न तर्क होता है। अपना संशय प्रकट करने पर ही उसका समाधान होता है। दृढ़ ज्ञान प्रश्न करने वाले को ही हो पाता है। प्रश्न निरूपण का बीज है। जो अपनी शङ्कायें नहीं कहता उसे विद्या प्राप्त नहीं होती। अस्तु अब तू सावधान होकर सुन।

जैसे एक ही दर्पण अनेक प्रतिबिम्बों के कारण अनेक रूप धारण करता है वैसे ही एक शुद्ध चैतन्य का अनेक विचित्र आकारों में भासित होना सम्भव है। स्वप्न आदि विकल्प अवस्था में मन केवल एक रहता है परन्तु वह दृष्टा, दृश्य, दर्शन आदि विचित्र भेदों से अनेक रूप में प्रतीत होता है। यदि शुद्ध चेतन्य भी इसी भाँति एक होकर अनेक रूप में भासित होता है तो आश्चर्य ही क्या। स्वप्न में भी चिति और चैत्य के दो भेद होते हैं। यदि उन्हें मिथ्या मानते हो तो जाग्रत में भी उन्हें मिथ्या मानना चाहिये। व्यवहार में प्रकाश और प्रकाशित पदार्थ दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यथार्थ में यह नहीं है वास्तव में वे पदार्थ उस प्रकाश से भासित होते हैं जिसका अनुभव अन्य साधनों से हो सकता है। क्या अन्धे को प्रकाश के बिना पदार्थ का अनुभव त्वचा आदि से नहीं होता अतः प्रकाशित पदार्थ को प्रकाश से भिन्न मानना पड़ता है। यदि वे केवल प्रकाश के द्वारा ही भासित होते हैं तो मानना पड़ता वे प्रकाश से भिन्न नहीं है। तेरा यह कहना भी व्यर्थ है कि रूप का भासित होना प्रकाश पर ही सर्वथा अवलम्बित है तो भी जब प्रकाश और रूप दो माने जाते हैं तो चित्प्रकाश के सम्बन्ध में द्वैत होगा। कारण यह है कि रूप भी प्रकाश के बिना केवल स्मृति की सहायता से भासमान होता है। कल्पना के समय मन पर रूप के अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। बिना प्रकाश जब रूप के यह अनेक भाव अनुभव में आते हैं तो इस दृष्टान्त को चैतन्य पर घटाना असङ्गत है। चैतन्य का प्रकाश अन्य प्रकाशों की भाँति एक देशीय

नहीं है क्यों कि इसमें भान के बिना कहीं कुछ भी भासित नहीं होता। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब भासित नहीं होता और वह उससे भिन्न नहीं रह सकता वैसे ही चैतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव चैत्य पदार्थ चैतन्य से पृथक् सिद्ध नहीं होता। अद्वितीय चैतन्य ही सर्वत्र है।

तुमने मन के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया है उसे भी समझो। मन चैतन्य से भिन्न नहीं है। जैसे स्वप्न में मन स्वप्नाभास से भिन्न नहीं होता वैसे ही जाग्रत में मन से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं होते। कार्यों की सिद्धि के लिये मन केवल एक साधन है। स्वप्न के वृक्ष को काटने के लिये जो कल्पित कुल्हाड़ी ली जाती है वह केवल कल्पित है। जैसी क्रिया होती है वैसा ही उसका साधन होता है। वे उनसे पूर्व भी सत्य नहीं है। जब मनुष्य का शृङ्ग नहीं होता तो उससे मनुष्य को भय ही क्या ? अतः जब कार्य चैत्य नहीं तो उनका साधन मन भी नहीं। स्वप्न में स्वप्नक्रिया का कारण समझ कर 'द्रक् शक्ति' को मन कहते हैं। इसी तरह जाग्रत भी वही मन कहाता है। द्रक् शक्ति (चैतन्य) को छोड़ कर क्रिया करने वाला मन होता ही नहीं। अपनी पूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति के बल पर मन इत्यादि की कल्पना करके द्रष्टा दृश्य आदि भेदों का व्यवहार यह चिदात्मा ही करता है। कभी-कभी वह केवल निर्विकल्प अवस्था में भी रहता है। हे सूत ! परिपूर्ण होने पर भी यह चित्तत्व चेतन धर्म के कारण स्वप्रकाशक है। इसी कारण से जड़ आकाश से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अन्यथा आकाश और चिदात्मा में दूसरा कोई भेद नहीं। आकाश की भाँति आत्मा भी पूर्ण है, सूक्ष्म है, निर्मल है। अनन्त है। और इसी तरह निराकार सर्वाधार असङ्ग है। तथा सब चराचर के भीतर बाहर है। आकाश में यह सब गुण होते हुये भी चैतन्य शक्ति नहीं है। चैतन्यपूर्ण आकाश को ही यथार्थ में आत्मा कहते हैं। जो जड़ आकाश को आत्मा समझते

हैं वह अज्ञानी है। जैसे उल्लूक अपने नयन दोष से सूर्य प्रकाश को अन्धकार समझता है उसी प्रकार अज्ञानी आकाश को ब्रह्म समझते हैं। ज्ञानी इसका तात्पर्य समझते हैं कि आत्मा चैतन्य आकाशवत् है। अपने मर्यादित स्वातन्त्र्य बल पर यह परम चैतन्य अपने आप को अनेक प्रकार से मर्यादित कर भासित करता है। वह वैसा ही है जैसे स्वप्न अनेक आकारों में दृष्टिगोचर होता है। यह भी मर्यादित दृष्टि से होता है। स्वयं चैत्य की दृष्टि से वह परिपूर्ण है, आत्मस्वरूप है।

इन्द्रजाल विद्या का खेल करने वाला दर्शकों को भिन्न भिन्न खेल दिखलाता है, परन्तु उसका अनुभव स्वयं एकाकी ही करता है। एकमेव यह परम शुद्ध संवित् अकेला ही है। उसका स्वरूप अखण्ड और एकरस है। माया से सङ्कोच कर वह अनेक मर्यादित रूपों में भासित होता है। माया का यह आवरण भी लोगों की मर्यादित दृष्टि के कारण है। क्योंकि यह इन्द्रजालिक की माया भी दूसरों की दृष्टि में भासित होती है। स्वयं उसके लिये वह शून्य ही रहती है। इस माया के कारण ही चैतन्य में अनन्त शक्ति है। व्यवहार में भी प्रत्यक्ष है कि अपनी मर्यादित शक्ति के द्वारा कोई मान्त्रिक अथवा योगी अनेक असम्भव बातें कर दिखाता है। फिर चैतन्य आत्मा के लिये जिसमें अमर्यादित शक्ति है क्या असम्भव है। मर्यादित पदार्थों में अहं का अभिमान रखना चैतन्य की मर्यादा परिच्छेद है। इस भावना में पूर्णता नहीं, अतएव यह अविद्या कहलाती है। सूत ! तात्पर्य यह है कि चैतन्य अपने सामर्थ्य से स्वयं अनेक रूप होकर भासित होता है।

इस विषय को मैं अनेक रूप से बारम्बार समझा चुका हूँ। तुम अब व्यर्थ की शङ्का त्याग दो। इस विषय में बड़े बड़े तार्किक विद्वान् भी मूढ़ हो जाते हैं। वहिर्मुख व्यक्ति अपने स्वरूप को समझ नहीं सकता। सद्गुरु के वाक्यों की सत्यता एवं असत्यता का निर्णय

तभी होता है जब मानव अन्तर्मुख होकर उसका स्वयं अनुभव करता है। केवल शब्द ज्ञान से कुछ नहीं होता। तुम सभी पदार्थों के अन्तरङ्ग सूक्ष्म तत्व का ही अन्वेषण करो। तुम विचार करो कि सभी पदार्थों के भान के समय पदार्थों के विशिष्ट आकार को त्याग कर एक चित्शक्ति सूक्ष्मतः भासमान होती है। वह चेतन और प्रकाश स्वरूप है। फलतः उसमें अहं का स्फुरण है। उसी को आत्मविश्रान्ति कहते हैं जड़ दृश्य पदार्थ चैतन्य के कारण भासित होते हैं, स्वयं नहीं। अतएव उसमें "स्वरूप विश्रान्ति रूपी अहं" की स्फूर्ति नहीं होती। चैतन्य बिना सहायता के सदैव स्वयं भासित होता है। अतएव इसमें "स्वात्म विश्रान्ति रूप अहं" का होना योग्य और आवश्यक है। इसमें किसी प्रकार की भेद भावना और मर्यादा नहीं है। और न भेद और मर्यादा के लिये इसमें कोई योग्य निमित्त है। अतएव पूर्ण स्वरूप चैतन्य में पूर्णता की जो स्फूर्ति है वही "आत्म बिश्रान्ति" और वही "पूर्ण अहन्ता" है। इस प्रकार यह सब अखण्ड एकरस चिन्मात्र है। निरूपण के समय अनेक नामों से इसी का सामर्थ्य भासमान होता है। सामर्थ्य भी तद्रूप ही है, इससे भिन्न नहीं। जैसे एक ही अग्नि में प्रकाश और उष्णता दोनों भाव रहते हैं, उसी प्रकार एक रसात्मक चिति में स्वातन्त्र्य बल और अहं स्फूर्ति दो भाव रहते हैं। अघटित घटना पटीयसी माया शक्ति का स्वरूप ही यही है। चिदेकरस स्वरूप में अनेक विचित्र भास भासित होना। इन स्वरूपों के भासित होने पर भी चैतन्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। मर्यादित भास ही अनात्म भास, अविद्या, जड़शक्ति अथवा प्रकृति है। इसी प्राथमिक भास को महा शून्य अत्यन्ताभाव आकाशतम और प्रथम सर्ग (सृष्टि) भी कहते हैं। परिपूर्ण आत्म स्वरूप की जो अहं स्फूर्ति है वह भ्रान्तिवस एकदेशीय होकर जब जड़ रूप में भासित होती है तब उसे "आकाश कहते हैं" अर्थात् जब "अहं" आत्मभाव को त्याग कर आत्म प्रदेश

रूप में शेष रहता है तब वह आकाश रूप में रहता है। वही जगत् का मूल है। अज्ञानी लोगों को उसी से भेदाभास का अनुभव होता है। तुम सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव करो कि जो आकाश रूप है वही उसमें रहने वाले जीवों का आत्मा चैतन्य है। दूसरों के शरीर में जो आकाश तुझे दृष्टिगोचर होता है वही उनका चिदानन्दघन आत्मा है। और वही तेरा भी आत्मा है। इस प्रकार हमारे कल्पित आकाश से जो चैतन्य व्याप्त होता है उसी को मन कहते हैं। अर्थात् वह आत्मा ही है, अन्य नहीं। आवरण करने वाले जड़ तत्व की दृष्टि से उसे मन कहते हैं। आवृत होने वाले चिदंश की दृष्टि से उसे "प्रमाता जीव" कहते हैं।

इस प्रकार से चैतन्य के अंश का आकाशरूपी जड़ तत्व से आवृत होने पर उस आकाश के कोमल, विरल, मृदु, निर्मल भावों पर कठिन, घन कठोर और मलिन भावों की कल्पना की जाती है। जिससे एक आकाश और इन चार भावनाओं से पञ्चभूत प्रकट होते हैं। स्वयं चिति का अंश इससे बने हुये शरीर की सङ्गति कर देह आत्मा हो जाता है। गुप्त दीपक की भाँति वह देहान्तर्गत चिदंश, देह को भीतर से वैसा ही प्रकाशित करता है जैसे कलश में रखा हुआ दीपक उसके अन्तर्भाग को प्रकाशित करता है। जैसे कलश के अन्तःस्थ दीपक का प्रकाश छिद्रों से बाहर आकर आभासित होता है उसी प्रकार चिद्रूप दीपक इन्द्रिय द्वारा बाहर प्रकाश करता है। वस्तुतः तो अक्रिय और पूर्ण चिद्रूप में बाहर भीतर होना सम्भव नहीं। परन्तु चैतन्य की ज्ञानशक्ति उसे आवृत करने वाले आकाश को जब दूर करती है तब वह बाहर आती हुई सी भासित होती है। ज्ञान शक्ति के द्वारा आवरण दूर करना ही "मन का व्यापार" है। अतएव आत्मा ही मन है। अन्तर केवल इतना है कि चञ्चल चिति मन और निश्चल चिति आत्मा है। आवरण दूर करना ही चित शक्ति की गति है। इसी को विकल्प कहते हैं। यही

मन का स्वरूप है। इस विकल्प का निरसन करने पर शेष जो पूर्ण निर्विकल्प "आत्मस्वरूप ज्ञान" रहता है वह मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

हे सूत ! तुम यह सन्देह न करो कि विकल्प का निरसन करने पर भी आवरण दोष तो शेष रह ही जावेगा। क्योंकि आवरण है ही कहाँ ? वह तो कल्पित है। यदि कल्पना में किसी शत्रु ने हम पर आक्रमण किया है हमें बाँध लिया है अथवा मार डाला है तो सङ्कल्प बन्द करने पर वह बाँधना, मारना आदि सभी छूट जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी है। वस्तुतः अनादिकाल से यहाँ किसी का बन्धन नहीं। "मैं बँधा हूँ" यह भावना ही महाबन्धन है। वह व्यर्थ के "हौआ" के भय की भाँति निरर्थक एवं घातक है। जब तक बन्धन के अस्तित्व की भ्रान्ति नष्ट नहीं होती तब तक दीर्घ उद्योग करने पर भी मनुष्य संसार से मुक्त नहीं हो सकता। "यह बन्धन है कहाँ ?" आकाश के समान निर्मल चिदात्मा को वह कैसे हो सकता है ? यदि स्वात्मरूप दर्पण में भासित होने वाले प्रति बिम्बात्मक दृश्य पदार्थों से आत्मा को बन्धन होता है तो दर्पण में दिखाई पड़ने वाले अग्नि प्रतिबिम्ब से भी किसी पदार्थ का जल जाना भी सम्भव है। यथार्थ में "बन्धन कोई वस्तु है और मन भी कोई वस्तु है", इन भावनाओं के अतिरिक्त कहीं कोई बन्धन नहीं है। संयुक्तिक विचार द्वारा यह सब मल न धो दिया जावे तब तक संसार का नाश करने में मैं (व्यास) तो क्या, स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी समर्थ नहीं। अतः इन भावनाओं का मूलतः त्याग करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प अवस्था में जो मन शेष रहता है वह आत्ममात्र है, अद्वैत है। "यह अमुक है" इत्यादि विकल्पों का त्याग ही आत्म पद पाना है।

हे सूत ! अब तुम्हारी अन्य शङ्का का समाधान कर रहा हूँ। रस्सी में सर्प का आभास करने वाली व्यवहार की भ्रान्ति सत्य

वस्तु पर होती है। अतएव यहाँ सर्प का बाध हो जाता है। परन्तु रस्सी का बाध नहीं होता। जिससे भ्रान्ति सत्य हो जाती है। यदि यही बात स्वप्न में हो तो यहाँ रस्सी भी स्वप्नोत्तर काल में अन्य सब पदार्थों की भ्रान्ति बाधित हो जाती है अतः वह भ्रान्ति भी सत्य नहीं कही जा सकती क्यों कि इस भ्रान्ति का ज्ञान किसके आश्रय रहेगा। उससे मालूम होता है कि दृश्य का परिमार्जन होजाने पर इसका ज्ञान केवल दृक् स्वरूप रहता है। चित् तत्व से भिन्न नहीं रहता। द्वैत उसमें सिद्ध ही कैसे है। प्रत्यक्ष व्यवहार और स्वप्न दोनों का अनुभव समान है। स्वप्न के समय उसके व्यवहार स्थिर प्रतीत होते हैं। फिर स्वप्न को मिथ्या और जाग्रत में केवल इतना अन्तर है कि जागृति में स्वप्न मिथ्या प्रतीत होता है। परन्तु स्वप्न में जागृति के मिथ्या होने का निश्चय नहीं होता। इतने भेद से यह नहीं कहा जा सकता कि जाग्रत के व्यवहार सत्य हैं। जैसे जाग्रत में वस्तुयें भी स्थिर और कार्यकारी प्रतीत होती हैं। जागृति के भाव स्वप्न में और स्वप्न के भाव जागृति में नहीं आते। परन्तु अपने समय में दोनों स्थिर और कार्यकारी प्रतीत होते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके ज्ञात करो कि जागृति की अतीत बातें और स्वप्न में क्या अन्तर है ? दोनों ही सर्वथा समान है। और भी विचार करो जागृति के सदृश ही स्थिरता और कार्य क्षमता अपने समय में इन्द्रजाल विद्या भी रखती हैं। तो वह सत्य कही जा सकती है। सामान्य लोग उसके सम्बन्ध में पूर्णतत्व नहीं समझ पाते। जैसे इस इन्द्रजाल को अज्ञानीजन सत्य मान लेते हैं वैसे ही इस संसार को मूढ़ ही सत्य समझते हैं। वास्तव में संसार सत्य नहीं है। सत्य तो वही है जिसे कभी अभाव का स्पर्श नहीं होता। व्यवहार में भी वही असत्य माना जाता है जो एक क्षण में भासित होकर दूसरे क्षण यथापूर्व नहीं रहता। इस व्याख्या से भी संसार असत्य ही सिद्ध होता है। समय पर सारे संसार का अभाव

हो जाता है। जब जिसका भाव नहीं होता उसे अभाव कहते हैं। उस दृष्टि से चेतन का अभाव नहीं होता। संसार के तो सभी पदार्थ ऐसे ही हैं कि एक पदार्थ भासित होते होते दूसरा पदार्थ भासित होने लगता है। क्यों कि वे अनेक हैं क्रम से उन सबका अभाव होता है। ऐसा अभाव चितिका कभी नहीं और कहीं नहीं होता। जब चिद्रूप भासित न हो तो उसी समय वह भासित कैसे होगा ? "भासित नहीं होगा" इस बात का अनुभव चैतन्य के अतिरिक्त कौन कर सकता है। परन्तु वह उस समय अनुपलब्धि को सूचित करने वाला काल भासित नहीं होगा, इस अवस्था में इन दोनों का भी अभाव हो जावे तब भी चैतन्य भासित ही रहता है। अतएव केवल वह चिद्रूप ही सत्य है। हे सूत ! सावधानी से सुन तुझे सत्य असत्य का अन्तर संक्षेप में बतलाता हूँ। दूसरे की सहायता बिना जो केवल स्वयंभासित होता है, वह सत्य है। और जो ऐसा भासमान नहीं होता वह असत्य है। प्रथम जो सत्य का लक्षण किया था कि—"जो वाधित होता है वह असत्य है और जो वाधित नहीं होता वह सत्य है," वह पूर्ण नहीं, क्यों कि इस लक्षण में अनेक अपवाद प्राप्त होते हैं। जैसे रज्जू में भासित होने वाले साँप को वाधित करने का ज्ञान यदि अवसर पर उत्पन्न न हो तो भासमान होने वाले साँप को इस व्याख्यानुसार सत्य समझा जावेगा। वाध होने का अर्थ है पदार्थ के न होने का ज्ञान। परन्तु पदार्थ रहने पर भी भ्रम से कई वार ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पदार्थ के न रहने पर भी कभी कभी उसके अस्तित्व का अनुभव हो जाता है। परन्तु उपरोक्त लक्षण में यह दोष नहीं है। चैतन्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि "कुछ भी नहीं है" यह भी नहीं है। अतः यदि कोई तार्किक मूर्ख कहे कि चैतन्य है ही नहीं तो अर्थ यह होगा कि "मैं ही नहीं हूँ" यह कह रहा है। जिसे आत्मा के भासमान होने पर और उसके अस्तित्व पर सन्देह है वह उत्तम तर्क द्वारा भी

दूसरों के मोह का निरसन नहीं कर सकता। सत्यकी भाँति क्रिया होते दिखाई पड़े तब भी उसमें केवल इतने से सत्यता नहीं आ जाती। उसमें सन्देह नहीं कि इन सबको जानने की पद्धति भ्रान्ति स्वरूप है। और इस भ्रान्ति को सत्य समझना महाभ्रान्ति है। मैं इसी भ्रान्ति के सम्बन्ध में बारम्बार कहता हूँ। सदैव पदार्थों की असत्यता रहने तक ऐसी ही भ्रान्ति होती है। चैतन्य ज्ञान होते ही यह सब ज्ञान भ्रमपूर्ण हो जाता है। जैसे आकाश में सब लोगों को नीलिमा का भ्रम एक समान है, वैसे ही सब लोगों को अपने दोष साम्य के कारण यह जगद्भ्रम एक सा लगता है। यह सत्य है कि चिदात्मक रूप में रहने वाला शुद्ध ज्ञान ही अभ्रान्ति अर्थात् सत्य स्थिति है। हे सूत ! मैंने तुम्हारी सभी भ्रान्तियों का स्पष्टीकरण कर दिया है। अब तुम सभी संशयों से मुक्त होकर कथनानुसार निश्चय करो। अब तुम्हें यह बताता हूँ कि जीवन मुक्त को व्यवहार कैसे सम्भव है।

मुक्त ज्ञानी तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जो स्वस्वरूप को जानते हुये भी प्रारब्धवश प्राप्त सुख दुःख से सुख दुःख का अनुभव करते हैं वह मन्द ज्ञानी है। मध्यम ज्ञानी प्रारब्धजनित सुख दुःखों को भोगते हैं। परन्तु उनपर ध्यांन नहीं देते जैसे नींद में मच्छर काटने का ध्यान नहीं होता। वैसे ही मध्यम ज्ञानी सुख दुखों पर ध्यान नहीं देते। जो ज्ञानी कोटि प्रारब्ध कर्मों के विचित्र फल पाकर भी नहीं डगमगाते, सङ्कट परम्परा से उद्विग्न नहीं होते। आश्चर्य में विस्मित और महासुख में सुखी नहीं होते। भीतर से शान्त और बाहर से अन्य लोगों की भाँति व्यवहार करते हैं, वे उत्तम ज्ञानी हैं।

इस प्रकार बुद्धि भेद के कारण ज्ञान की परिपक्वता की न्यूनाधिकता के कारण तथा प्रारब्ध की विचित्रता के कारण ज्ञानियों

के व्यवहार में भिन्नता पाई जाती है। ज्ञानी भी व्यवहार करते हैं और कर सकते हैं, परन्तु व्यवहार में अनुभव उन्हें स्वस्वरूप का ही होता है। वह सांसारिक पदार्थों में रस नहीं लेते।
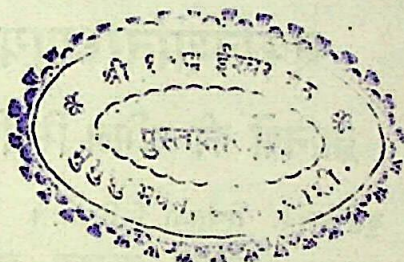
एकविंशतिरध्यायः

ज्ञानियों की वभिन्न स्थितियाँ

बुद्धेर्विभेदैः स्थितयो विभिन्नाः ।
विवेकिनां ज्ञानवतां लसन्ति ।।
संसार कार्येऽपि समाधि मग्नाः ।
केऽप्यात्म सन्धान विशेषलग्नाः ।।२१।।

श्री वेदव्यास जी की पीयूष वाणी से सूत का हृदय आप्लावित हो गया। वह अमृत निस्यन्दिनी ज्ञान स्रोतस्विनी में गोते लगाने लगा। कुछ क्षण विराम लेने के उपरान्त वह बोला—गुरुवर ! बुद्धि भेद से ज्ञान की परिपक्वता न्यूनाधिक कैसे होती है। मोक्ष तो एक रूप ही है, सब उसी का सम्पादन करते हैं। तो बुद्धि भेद से ज्ञान की परिपक्वता में अन्तर क्यों ? क्या ज्ञान के साधनों में भी भेद है ?

श्री वेदव्यास जी बोले—हे सूत ! सुनो मैं तुम्हें इसका सारा रहस्य समझाये देता हूँ। किसी भी साधन में अन्तर नहीं होता। इस सम्बन्ध में विभिन्न साधन भी नहीं हैं। परन्तु साधनों की न्यूनाधिकता के कारण फल की प्राप्ति में अन्तर पड़ जाता है। साधन की पूर्णावस्था में पहुँचने पर ज्ञान पूर्ण परिपक्व हो जाता है। जब तक वह अपूर्ण रहता है तब तक उसकी पूर्णता प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक प्रयास करना पड़ता है। यथार्थ में ज्ञान

की प्राप्ति के सम्बन्ध में साधन का कुछ भी उपयोग नहीं है। ज्ञान कभी साध्य नहीं होता वह स्वभावतः सिद्ध है। चैतन्य ही ज्ञान है। यह सदैव स्वप्रकाश है। जिसका नित्य भान होता है, उसके लिये उपाय करने की क्या आवश्यकता है। परन्तु वह ज्ञान सहस्रों वासनाओं के पङ्क में फँसे रहने के कारण अनुभव में नहीं आता। मन का निरोध करना ही जल के समान है। जिससे वासनाओं का मल धुलता है। चित्त रूपी सन्दूक को विचार रूपी यन्त्र से खोला जाता है और खुलने पर नित्यभासित होने वाला चैतन्य उस सन्दूक में रत्नों की भाँति प्राप्तं होगा। अतः चित्त की वासनाओं को निरसन करने के लिये साधना की आवश्यकता है। वासना की न्यूनाधिकता के कारण बुद्धि की शुद्धता न्यूनाधिक हो जाती है। वासना के मल से बुद्धि जिस अंश तक आच्छादित हो उसे उतने ही अँश तक साधनों की आवश्यकता है।

वासनायें कई प्रकार की होती हैं (१) अपराध वासना (२) कर्म वासना (३) काम वासना।

(१) अपराध वासना—वेदादि शास्त्रों पर श्रद्धा न रखना मुख्य अपराध है। यह अपराध आत्म विनाशी है। विपरीत आग्रह होना दूसरा अपराध है। अनेक कला कुशल पुरुष इस अपराध के कारण सन्तों का समागम और शास्त्रज्ञान पाकर भी उस परम पद से वञ्चित रह जाते हैं। उनकी धारणा होती है कि "परम तत्व है ही नहीं" "वह असम्भव है" यदि है तो किसी से जाना नहीं जा सकता। यदि इस प्रकार के प्राणियों पर सन्त कृपा भी कर देते हैं और परम तत्व को समझा भी देते हैं, तब भी वह सन्देह करने लगते हैं कि "यह परम पद नहीं है।" इसे जान लेने से मोक्ष कैसे मिलेगा। यह अश्रद्धा रूप "अपराध वासना" परम पद प्राप्ति में मुख्य बाधक है। इसके कारण सहस्रों शास्त्र कुशल पुरुष जन्म मरण से मुक्त नहीं हो पाते। पूर्व काल के दुष्कर्म जन्य संस्कारों के कारण जिन

लोगों की बुद्धि मलिन होती है वह लोग तत्वोपदेश से लाभ नहीं उठा पाते ।

(२) सद्गुरु—कितनी भी युक्तियों से समझावे परन्तु उन्हें तत्व की धारणा ही नहीं होती यह "कर्म वासना" है । मन के निरोध करने पर भी इस वासना को दूर करना कठिन है ।

(३) काम वासना है । काम अर्थात् कर्त्तव्य शेष रहने की दृढ़ भावना "काम वासना" है । जैसे "मेरा यह कर्त्तव्य है" मेरा वह कर्त्तव्य है । मुझे निश्चय ही यह कार्य करके शान्ति मिल पावेगी । यह प्राप्त भोग भोगे बिना आगे नहीं बढ़ सकता । इत्यादि भावनाओं को दृढ़ता से धारण करना काम वासना का फल है । इसका अनन्त विस्तार है जैसे पृथ्वी के कणों की अथवा आकाश के तारों की गणना असम्भव है, ऐसे ही इन कर्मों की संख्या नहीं बताई जा सकती । यह "काम वासना" आकाश से भी अधिक विस्तीर्ण और पर्वत से भी अधिक दृढ़ है । इसी "काम वासना" को "आशा पिशाचिका" भी कहते हैं । इसी के कारण भ्रमित होकर सब लोग दुःख में ग्रसित रहते हैं । ऐसे विरले ही महात्मा हैं जो इस पिशाची से मुक्त होकर सर्वाङ्ग शीतल और धन्य हो गये हों ।

हे सूत ! इन वासनाओं से मन भरा है अतएव चेतन तत्व भासमान् नहीं होता । वस्तुतः सब साधनों का फल वासना नाश है । अब इन वासनाओं के नाश का उपाय बताता हूँ ।

विचार पूर्वक निश्चय करने से अपराध वासना छूटती है । कर्म वासना का नाश करने के लिये ईश्वर कृपा के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है । यह वासना भगवत्कृपा से एक अथवा अनेक जन्मों में छूटती है । काम वासना वैराग्य आदि साधनों से निवृत्त होती है । विषयों में दोष दृष्टि रखे बिना वैराग्य नहीं होता । काम वासना जैसी जैसी न्यूनाधिक होती है । वैसी वैसी दोष दृष्टि रखनी पड़ती है । परन्तु इन सबके लिये मुख्य कारण मुमुक्षुता है । इसके

बिना श्रवण मनन से सच्चा लाभ नहीं होता। केवल वक्तृत्व आदि की शक्ति आ जाती है। ऐसे वक्तृत्वात्मक ज्ञान से परम पद नहीं, प्राप्त होता। सच्ची मुमुक्षुता के अभाव में कितना भी अधिक विचार किया जावे वह सब प्रेत के अलङ्कार की भाँति व्यर्थ होता है। इसी प्रकार वह मन्द मुमुक्षुता भी व्यर्थ है। "हमारे हाथों पुण्य हो" केवल यह इच्छा किसी उपयोग की नहीं है। पुण्य लालसा से होने वाले कर्म मोक्ष फल नहीं देते। मुमुक्षा तीव्र होनी चाहिये। जितनी तीव्र मुमुक्षा होगी उतना शीघ्र मोक्ष मिलेगा। ऐसी तीव्र मुमुक्षा समस्त साधन समुदाय से उत्तम है। यह सब साधनों में सहायता करती है। इस प्रवृत्ति को ही तत्परता कहते हैं। सर्वाङ्ग ज्वलित मनुष्य शीतलता ही चाहता है। मुमुक्षु संसार से मुक्त होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। मोक्ष के अतिरिक्त अन्य सब प्राप्त वस्तुओं में दोष दृष्टि रखने पर यह स्थिति आ जाती है। तीव्र वैराग्य द्वारा मुमुक्षता में भी तीव्रता आ जाती है। विषयों में रहने वाली प्रीति को नष्ट करने वाला वैराग्य दोष दृष्टि से उत्पन्न होता है। वैराग्य से मुमुक्षता और मुमुक्षता से तत्परता उत्पन्न होती है। साधनों में अत्यन्त तीव्रता से लग जाना तत्परता है। इस तत्परता का बड़ा अद्भुत फल है। अतः सर्व प्रथम विषयों में दोष दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिये यही सब साधनों का मूल है।

श्री वेदव्यास के भाषण को सुनकर सूत बोले—भगवन्! आपने तो मोक्ष के कई साधन कह डाले। प्रथम तो आपने मोक्ष का मुख्य साधन सत्सङ्ग बताया था। अब आप ईश्वर कृपा को ही मोक्ष का साधन कहते हैं। तथा अन्त में आपने यह निर्णय दिया कि विषयों में दोष दृष्टि रखना ही मोक्ष का मूल तत्व है। इन तीनों कारणों में मुख्य कौन है? और कैसे प्राप्त होता है? आप सविस्तार वर्णन कीजिये।

सूत जी की बात सुनकर श्री वेदव्यास जी मुस्कराये और कहने लगे हे सूत! तू समझा नहीं कथन शैली की दृष्टि से इन साधनों

की पृथक् पृथक् मुख्यता बताई है। वस्तुतः तो तीनों परस्पर आश्रित हैं। सुनों अब तुम्हें मैं समस्त साधनों का मूल रहस्य बताता हूँ। मोक्ष का रूप और स्थिति भी सावधान होकर सुनो।

परम चैतन्य देवता अपने सामर्थ्य से अपने ही स्वरूप दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति जगत् रूपी चित्र भासित करता है। अनादि अविद्या से मलिन जीवों के कल्याणार्थं वह परम देवता हिरण्यगर्भ नामक शरीर धारण करता है। उसी ने समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला वेद रूपी ज्ञान सागर प्रकट किया है। जीवों में स्वभावतः इच्छायें और वासनायें होती हैं। उन इच्छाओं की पूर्ति हितपूर्वक किसमें है। इसका उत्तम विचार कर उस पर देव ने विभिन्न फल देने वाले अनेक काम्यकर्म निर्मित किये। प्रत्येक जीव अच्छा बुरा कुछ भी कर्म स्वभावतः करता ही रहता है। शुभकर्म फलों से अनेक योनियों में भटकता हुआ वह मनुष्य जन्म पाता है फिर वासनाओं के वश होकर वह काम्य कर्मों की ओर झुकता है। वह कामनाओं को पूर्ण करने के लिये वह ईश्वर सम्बन्धी शास्त्रों का अवलोकन करता है। कर्म करते करते किसी सूक्ष्म दोष के कारण जब उसे उचित फल नहीं मिलता तब उसे आघात पहुँचता है। वह सत्पुरुष की सङ्गति कर शान्ति चाहता है। वहाँ सत्पूरुष द्वारा ईश्वर महिमा का बोध होता है। प्राक्तन पुण्यों के उदय होने पर उस पर परमेश्वर की कृपा होती है तव उसकी प्रवृति मोक्ष पाने की हो जाती है सारांश यह है कि पूर्व पुण्य के बल से सत्सङ्गति कर मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त करता है। अतएव सत्सङ्ग मोक्ष प्राप्ति का मूल कहा गया है। कभी कभी उत्तम पुण्यबल से अथवा उत्कट तपस्या करने पर भी अकस्मात् ज्ञान प्राप्ति हो जाती है। विभिन्न कारणों से होने वाली ज्ञान प्राप्ति भिन्न भिन्न है। इसी प्रकार न्यूनाधिक बुद्धि न्यून अथवा अधिक वासना और अल्पाधिक साधनों के कारण भी ज्ञानियों की स्थितियाँ भिन्न भिन्न होती

है। जिसकी बुद्धि में वासना के पुट सामान्यतया विरले होते हैं उसे अल्प साधनों से भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता। जिसकी भावना स्वभावतः ऐसी शुद्ध नही होती उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत काल तक साधन करना पड़ता है। जिसकी भावनायें अत्यन्त मलिन और घनीभूत होती है उसे ज्ञान होने पर भी लाभ नहीं हो पाता। यदि वह अपने साधन को स्थिर ही रखने लगे तो उसका ज्ञान परिपक्क हो सकता है। इन कारणों से ज्ञानियों की स्थितियाँ भिन्न भिन्न रहती हैं चित्त की परिपक्व अवस्था में भेद होने के कारण स्थिति में भी भेद होता है। बुद्धि पर ज्यों ज्यों वासनाओं का अल्पाधिक आवरण रहता है त्यों त्यों ज्ञान भिन्न होने के कारण स्थिति में अन्तर पाया जाता है। ज्ञानियों की स्थिति में अन्तर कैसे है इस पर विचार करो, ब्रह्मा विष्णु महादेव जन्म से ही ज्ञानी हैं। परन्तु स्वभाव जनित गुणों से उनके कार्य भिन्न भिन्न है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके ज्ञान में कुछ भी मलिनता है। प्रकृति के गुणों का स्वरूप भिन्न भिन्न है। जैसे ज्ञानियों का शरीर काले से गोरा नहीं हो सकता वैसे ही उनके चित्त का धर्म भी नहीं बदल सकता। हे सूत ! मैं इसका एक पुष्ट उदाहरण दे रहा हूँ। अत्रि मुनि के तीन पुत्र थे। दत्तात्रेय, दुर्वासा तथा चन्द्रमा मुनि। तीनों परम ज्ञानी और मोक्ष के अधिकारी थे। और ज्ञान की अवस्था समान होने से मोक्ष भी समान प्राप्त किया। परन्तु चित्तस्वभाव भिन्न भिन्न होने के कारण भिन्न भिन्न स्थितियाँ थीं। दुर्वासा सदैव क्रोध से भरे रहते थे। चन्द्रमा मुनि भोग विलास में निरत रहते थे। और दत्तात्रेय सर्वसङ्ग त्यागी विरक्तावस्था में मग्न रहते थे। और भी ज्ञानियों की स्थिति पर विचार कर। वसिष्ठ अत्यन्त कर्मनिष्ठ थे। सनकादिक जन्म विरक्त है नारद भक्ति तथा प्रेम में निमग्न रहते हैं। शुक्राचार्य कवि है तथा राक्षसों की रक्षा चिन्ता में लगे रहते हैं। गुरु वृहस्पति देव पक्ष का हित

करतें हैं। जनक राज्य करते थे जड़ भरत लगोंटा धारण किये पड़े रहते थे। हे सूत ! मेरा पुत्र शुक जन्मतः विरक्त है। यह उपर्युक्त सभी महापुरुष परम ज्ञानी हैं परन्तु स्वभाववश स्थितियाँ भिन्न भिन्न है। मैं तुझे उसका भी गूढ़ रहस्य बता रहा हूँ।

प्रथम तीन प्रकार की वासनायें बताई गई हैं। उनमें से दूसरी जो कर्म वासना है जिसका स्वरूप बुद्धि मन्दता है वह सब से बलशालिनी है। यह जिसे स्पर्श भी नहीं करती वही सच्चा बुद्धिमान् है। इस वासना के नाश होने से अपराध वासना शीघ्र ही स्वयं नष्ट हो जाती है। दोनों वासनाओं का नाश होने पर यदि ज्ञान प्राप्त किया जाय तो ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानियों की यदि अभ्यास द्वारा "काम वासना" नष्ट नहीं की गई तो वह ज्ञानावस्था में भी स्वभाववश रहेगी, परन्तु वह केवल क्रिया मात्र रहेगी। ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं बनेगी। इस प्रकार के ज्ञानी के लिये वैराग्य आदि की भी विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। उन्हें भजन ध्यान और समाधि की भी अधिक आवश्यकता नहीं होती। वे ज्यों ही एक बार तत्व का श्रवण करते हैं त्यों ही शीघ्र उनका मनन निदिध्यासन स्वयं हो जाता है। और उन्हें परम पद की प्राप्ति हो जाती है वे सर्व संशयों से मुक्त होकर कर्ता होकर भी अकर्ता रहते हैं। वे ही जनक आदि की भाँति जीवन मुक्त रहते हैं। सूक्ष्म और निर्मल बुद्धि होने के कारण कामादि वासनाओं के नाश करने के लिये उन्हें उनसे विपरीत अभ्यास नहीं करना पड़ता, वह वासना उनके ज्ञानं में बाधा नहीं डाल सकती। अतएव वह उसे पूरा पूरा दूर करने की चिन्ता नहीं करते। फल यह होता है कि परम पद को जान लेने पर भी पहले से विद्यमान् वासना में वे निरत रहते हैं। परन्तु उससे उनकी बुद्धि किञ्चित् भी मलिन अथवा लिप्त नहीं होती। ऐसे ज्ञानियों को "बहुमानस" कहते हैं। परन्तु जिनका चित्त कर्म वासनाओं से अति मूढ़ हो

चुका उन्हें महादेव के भी उपदेश से परम पद का ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार दृढ़ अपाध वासना वाले को भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिसकी कर्म वासना और अपराध वासना कम, और काम वासना दीर्घ रहती है, उसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन का बहुत अभ्यास करने पर तथा वैराग्य द्वारा काम वासना नष्ट करने पर बहुत काल में ज्ञान होता है। उनका व्यवहार अल्प होता है उनका मन वासनाक्षय के कारण "नष्ट सदृश" रहता है वह मध्यम प्रकार के ज्ञानी हैं। उन्हें नष्ट मानस कहते हैं उसी प्रकार का अभ्यास करने वालों में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका अभ्यास परिपक्व नहीं हो पाता उनके मन में वासना का अंश शेष रहता है वह मन्द ज्ञानी है और उन्हें "समनस्क" भी कहते हैं। समनस्क केवल ज्ञानी है और "नष्ट मानस" तथा "बहुमानस" ज्ञानी तथा जीवन मुक्त भी है। जो केवल ज्ञानी हैं वे प्राप्त दुःखों को भोगते और नित्य प्रारब्ध के अधीन रहते हैं। उन्हें मरने पर मोक्ष मिलता है। "नष्टमानस" ज्ञानी प्रारब्ध को जीत चुके होते हैं। हे सूत ! जीवों के मन रूपी भूमि पर प्रारब्ध के बीज से भोग रूपी अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। परन्तु "नष्ट मानस" की मनोभूमि ही नहीं होती अतएव वहाँ प्रारब्ध का बीज उत्पन्न ही नहीं होता। "बहुमानस" उत्तम ज्ञानी है उनकी दशा अति बुद्धिमान् सी होती है जो एक साथ दस पाँच कार्य सफलता पूर्वक कर सकता है। हम साधारण लोगों को देखते हैं कि एक व्यक्ति साईकिल को चलाता जाता है साथियों से बात चीत भी करता है। और हाथ से कुछ खाता भी जाता है। जैसे यहाँ पर मन एक होने पर भी तीन क्रियायें एक साथ करता है, वैसे ही उत्तम ज्ञानी भी स्वरूप के अनुसन्धान से विचलित न होकर भी निर्भयता पूर्वक व्यवहार करते हैं। हे सूत ! तुमने सहस्त्रार्जुन का वृतान्त सुना होगा। उसके सहस्त्र हाथ थे वह हजारों हाथों में शस्त्र लेकर लड़ता था। वह अकेला अनेक लोगों से युद्ध करता

था। और शस्त्र चलाने में उससे किञ्चित् भी त्रुटि नहीं होती थी। जैसे व्यवहारी पुरुषों का मन बहुविध होकर क्रम से आने वाले कार्यों को करता रहता है वैसी ही स्थिति उत्तम ज्ञानी की है। उनका मन आत्माकार होता है। अतएव वाह्य विषयों के आकार परिणामों से उनकी स्वस्थिति में कुछ भी विरोध नहीं होता। इसीलिये वह "बहुमानस" ज्ञानी कहाते हैं। यदि उनकी मनोभूमि पर प्रारब्ध का अंकुर उगने लगे तो वह ज्ञानाग्नि से तत्क्षण जल जाता है। प्रारब्ध रूपी बीज का अङ्कुर ही सुख दुःखों का समागम है। उसके सम्बन्ध में विचार उत्पन्न होना उसका फल है। पर अङ्कुर के भस्म हो जाने पर फल कहाँ से आ सकता है। अतएव ऐसे ज्ञानी जो व्यवहार किया करते हैं वह दृढ़ परिचित आत्मानुसन्धान और संस्कार की प्रबलता के बल पर करते हैं। जैसे बच्चे के साथ खेलता हुआ प्रौढ़ मनुष्य कभी क्षुद्र निमित्त से सुखी और किसी नगण्य कारण से दुःखी सा प्रतीत होता है। उसी प्रकार व्यवहार करते हुये "बहुमानस" ज्ञानी भी आनन्द और खेद किया करता है। किसी दूसरे के कार्यों को करते समय हमें जैसे सुख और दुःख बाहर से होता है अन्तःकरण से नहीं, वैसे ही व्यवहार करते समय उन उत्तम ज्ञानियों की दशा होती है। उनके हृदय में सदैव स्वस्थता रहती है। यह बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष वासनाओं के नाश करने के लिये तद्विरुद्ध वासनाओं का अभ्यास और मन का निरोध अधिक नहीं करते। फलतः उनकी वासनायें ज्ञानोत्तर काल में भी प्रकट होने लगती है। जिससे कोई कर्मनिष्ठ, कोई कामी, कोई क्रोधी, कोई भोगविलासी आदि अनेक आचरण वाले उत्तम ज्ञानी पाये जाते हैं इनमें जो "समनस्क" मन्द ज्ञानी बतलाये गये। उनका भी निश्चय हो चुका रहता है कि अखिल दृश्य असत्य हैं और समाधि अवस्था में तथा स्वरूपानुसन्धान के समय उन्हें दूसरा कुछ भी भासित नहीं होता परन्तु समाधि भङ्ग होते ही स्वरूपानुसन्धान भङ्ग हो जाता है। सत्य तो यही है स्वरूप का अखण्ड

अनुसन्धान होना अर्थात् व्यवहार में उसका खण्डित न होना सच्ची समाधि है। क्योंकि जो मूल निर्विकल्प स्वरूप है वह सभी का आधार है। और सभी में उसकी सदैव स्फूर्ति हो रही है। उससे रहित कुछ भी नहीं है। और उस तत्व का अनुभव व्यवहार की अनेक अवस्थाओं में भी निर्विकल्पता से होता है। पर इतने से वह सब लोगों की समाधि मोक्ष फल देने वाली समाधि नहीं कही जा सकती। जिन्हें स्वरूप का अखण्ड अनुसन्धान होता है उन्हीं की समाधि सच्ची समाधि है। उत्तम ज्ञानियों को सदैव यह अनुभव होता रहता है कि शुद्ध चिद्रूप व्यवहार के समय भी वेद्य (विषय) पदार्थों से विवर्जित है। अर्थात् उसे उनका स्पर्श नहीं होता। यह ज्ञान हो जाने पर भी आकाश का नील वर्ण यथार्थ में उस पर नहीं है उसका नील वर्ण आँखों से दिखाई पड़ता है। परन्तु उसकी असत्यता को जान लेने पर हृदय का अनुभव बदल जाता है। इसी तरह तत्व ज्ञान होने से प्रथम भास में, और बाद के भास में अन्तरङ्ग के भाव का भेद रहता है। जब सब वेद्य पदार्थ असत्य मालूम हो जाते हैं तब वेदना (शुद्ध चित्त रूप से) उनका सम्बन्ध कहाँ से हो सकता है। इससे सिद्ध है कि व्यवहार के समय में भी उत्तम ज्ञानी पुरुषों को संवित्—चित्कला वेद्य सम्बन्ध रहित ही होती है। अर्थात् ज्ञानियों का ज्ञान व्यवहार के समय विषय सम्बन्ध से पृथक् रहता है। "नष्ट मानस" सदैव उन्मनी अवस्था में ही रहते हैं। मन का निःसङ्कल्प होना उन्मनी अवस्था है। वेद्य पदार्थों को सत्यरूप से ग्रहण करना मन का चलन अथवा सङ्कल्प है। उत्तम ज्ञानियों में यह दोनों अवस्थायें एक ही समय में रहती हैं। अतएव वे सदैव वाह्यतः व्युत्थान करते रहने की अर्थात् व्यवहार करते रहने की अवस्था में भी अन्तःस्थ समाधि मग्न अवस्था में रहा करते हैं। अतएव उनकी स्थिति सदैव असङ्ग रहती है।

द्वाविंशतिरध्यायः

ब्रह्म का साक्षात्कार

ब्रह्मादि देवैरूपगीयमानम् ।
साक्षात्परब्रह्म तदाविरासीत् ।।
यद्वेद तत्वं निहितं गुहायाम् ।
आकाशवाण्या तु तदेवमुक्तम् ।। २२ ।।

श्री वेदव्यास की मधुर वाणी सुनकर सूत जी तृप्त हो गये और बोले—गुरुवर ! अब हमारे सकल संशय छूट गये हैं। मुझे आनन्द और शान्ति की प्राप्ति हो रही है। परन्तु मेरा लालची मन अब भी आपके द्वारा कहे हुए अमृत सागर में गोते लगाना चाहता है। कान अब भी कुछ सुनना चाहते हैं। अतः अब मुझे कोई संशय तो नहीं रहा तथापि जो कोई गूढ़ रहस्य शेष रह गया हो वह भी सुना दीजियेगा।

श्री वेदव्यास जी बोले—सूत ! मैंने तुम्हें सभी रहस्य बता दिये हैं। सब का मूल सत्सङ्ग है और वह सत्सङ्ग हरि कृपा से प्राप्त होता है। सत्सङ्ग से ही तुम्हारी अब यह दशा हो गई। सत्सङ्ग से विषयों में वैराग्य आता है। विषयों में वैराग्य के बिना कोई भी आत्मानन्द नहीं प्राप्त कर सकता। मैं तुम्हें एक सुन्दर दृष्टान्त सुना रहा हूँ।

एक सुन्दर सरोवर था, जिसमें सदैव परम सुन्दर मृदुल नील-श्वेत अरुण आदि प्रकार के रमणीय कमल विकसित होते रहते थे।

उसमें एक मधुप रहता था। जो सदैव उन कमलों के मधुर मकरन्द का आस्वाद लिया करता था। एक दिन वह उड़ता हुआ सरोवर तट पर आया। वहाँ उसने देखा कि एक भ्रूण जन्तु जिसे गुबड़ैला भी कहते हैं, विष्टा की गोली लुड़काता हुआ जा रहा था भ्रमर ने पूछा अरे! तू यह क्या करता है? यह वस्तु क्या है? भ्रूण बोला—मधुप! यह मेरा भोज्य विष्टा है। इसे अपने स्थान पर लिये जा रहा हूँ, वहाँ आनन्द से खाऊँगा मधुप बोला—छिः छिः इस घृणास्पद वस्तु से तुम इतना प्रेम करते हो। यह सर्व त्याज्य वस्तु तुम्हारा भोज्य है। इसे त्याग कर कोई अन्य सुन्दर वस्तु को भोज्य बनाओ। भ्रूण बोला—"भैया भ्रमर! मुझे तो इसी में आनन्द आता। इससे अधिक स्वादिष्ट वस्तु मैंने कभी पाई ही नहीं।"

मधुप कहने लगा—चलो हमारे साथ, मैं तुम्हें कमलों का मधुर रस पान कराऊँगा, जिसका आनन्द अवर्णनीय है। "भ्रूण बोला"—वह रस मुझे कैसे प्राप्त हो? उस रस के क्या गुण हैं? मधुप बोला—"भ्रूण! तुम मेरे साथ उढ़ो, मैं अपने सहारे से तुम्हें रसपूर्ण कमल पर बैठा दूँगा। कमल का सरस मकरन्द बड़ा ही स्वादिष्ट, मधुर और आनन्द प्रद है। उसका सौरभमय पराग खाकर तुम आल्हादित हो जाओगे। मैं सदैव उस रस का पान करता हूँ तो मेरी वाणी सुमधुर सङ्गीतमय है। मेरे पङ्ख सुचिक्कण पीतवर्ण के हैं। मेरा स्वरूप कितना सुन्दर कृष्ण कान्ति युक्त है। यह सब उसी रसास्वाद का फल है।"

यह सुनकर भ्रूण का मन लालायित हो उठा वह बोला—'प्यारे मधुप! मुझे भी वह रस और मकरन्द पिलाइये।"

मधुप ने कहा—चलो! इसी क्षण उस गोली को त्याग कर उड़ चलो। "भ्रूण ने विचार किया कि मधुम के साथ चलना अवश्य चाहिये। परन्तु क्या मधुप की सभी बातें सत्य हैं? सम्भवतः यह मिथ्यावादी हो? वहाँ मधुर मकरन्द और रस न मिला तब

क्या होगा ! अतः अपना जलपान साथ में ले लेना चाहिये ।" ऐसा निश्चय करके भ्रूण ने एकविष्टा की गोली मुख में दबा ली । और मधुप के साथ उड़ चला । मधुप ने उसे ले जाकर एक सुन्दर प्रफुल्लित रस पूर्ण नील कमल में छोड़ दिया और स्वयं कमल में रस पान करने लगा । भ्रूण विष्ठा की गोली मुख में दबाये कमल में बैठा रहा उसे विष्ठा के कारण न तो सुगन्धि प्राप्त हुई और न रस पान ही कर सका क्यों कि मुख में तो दूसरी ही वस्तु थी । कुछ काल के उपरान्त भ्रमर रस पानकर आनन्दमग्न हुआ, भ्रूण के समीप आया और बोला—प्रिय मित्र भ्रूण ! इस नील कमल का मधुर रस पीकर तृप्त हुये या नहीं ? कितना स्वादिष्ट इसका मकरन्द है ।

भ्रूण बोला—मूर्ख ! तूने मुझे कहाँ इन पँखुड़ियों में डाल दिया । यहाँ तो मैं बैठ भी नहीं पाता, चिकने दलों में धँसा जा रहा हूँ । यहाँ तो सौरभ पराग रस कुछ भी नहीं प्रतीत होता । यहाँ व्यर्थ क्या करूँ, मुझे बाहर पहुँचा दो ।"

मधुप आश्चर्यपूर्वक बोला—ऐ......"मित्र ! क्या कहते हो ? मैंने तो तुम्हें ऐसे रस पूर्ण शतदल पर बिठाया जिससे रस चू रहा है उसकी सुगन्धि तो चारों ओर उड़ रही है । यहाँ तुझे रस नहीं मिला तो कहाँ मिलेगा । तेरे मुख में तो कुछ नहीं है ?"

भ्रूण बोला—"मित्र ! जलपान के लिये कुछ सामग्री साथ में लाया हूँ वही मेरे मुख में दबी है ।"

मधुप बोला—धिङ् मूर्ख ! यहाँ भी तू विष्टा को साथ ले आया । ओह ! उसके रहते तुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । यह सुगन्धित रस उसे त्यागे बिना कैसे प्राप्त होगा । निकल यहाँ से बाहर, त्याग दे इस घृणित वस्तु को, और निर्मल जल में अपने मुख का प्रक्षालन कर ।" मधुप की निर्भर्त्सना से वह भयभीत हो गया और उसने अपनी मुखस्थ वस्तु त्याग दी । और उसके संसर्ग

की दुर्गन्धि भी जल में पुनः पुनः धोकर दूर कर दी। तदनन्तर वह रसपान में निमग्न हो गया। अब क्या था। मुख स्पर्श करते ही रस निकल पड़ा। अभूतपूर्व रसास्वाद करके वह कृतार्थ हो गया। बोला—मित्र मधुप ! अब तो एक अद्भुत स्वाद आ रहा है धन्य हैं आप ! जो मुझे यह अनुपम आनन्द प्रदान किया।" इस प्रकार वह भ्रूण दिन भर रसपान में लगा रहा। संध्या के समय मधुप ने कहा—मित्र ! अब इसे छोड़ दो, रात्रि में यह बन्द हो जावेगा। भ्रूण बोला—मित्र ! कुछ भी हो पर मैं इस आनन्द रस को नहीं त्याग सकता। फिर वह रात्रि में उसी में बन्द हो गया। प्रभात काल में एक पुजारी ने उस पुष्प को तोड़ लिया और शङ्कर की अर्चना में शिव के शीर्ष स्थान पर चढ़ाया। भ्रमर जब अपने मित्र को देखने आया तो कमल ही न था। दुखी होकर इतस्ततः खोजने लगा। अन्वेषण करने पर देखा कि शिव के शीर्ष पर वह अधम जन्तु शोभा पा रहा है। मधुप बोला—मित्र ! तुम तो यहाँ आ गये।"

भ्रूण बोला—मित्रवर ! यह सब आपकी कृपा का फल है। आपने मुझ अधम जीव को यह पद प्रदान किया। विष्टा जैसी हेय वस्तु में तल्लीन रहने वाला यह जन्तु अब इस स्थिति में है। अब मैं शङ्कर के मस्तक पर बहने वाली ब्रह्म विचार गङ्गा में आनन्द ले रहा हूँ। आपके सङ्ग से मैं कृतार्थ हो गया। मेरा उद्धार हो गया। धन्य है सत्सङ्ग।

इस दृष्टान्त का रहस्य यह है कि संसारी जीव ही भ्रूण हैं। जो रात दिन विषय रूपी विष्टा में लिपटे रहते हैं। उसी के अर्जन में जीवन लगाये हैं। उसी को सर्वस्व समझते हैं। जब इन जीवों को ब्रह्मरस भोक्ता कोई महापुरुष मिल जाता है और करुणा कर देता है तभी वह जीव उस महात्मा का सङ्ग करता है और भजन, ध्यान, जप, पूजा आदि कमल में बैठकर सत्, चित् आनन्द रूपी

मकरन्द सुगन्ध पराग प्राप्त करने की चेष्टा करता है। परन्तु विषय रूपी विष्टा की चाहना होने के कारण वह ब्रह्मरसस्वाद से वञ्चित रहता है। पुनः जब विशेष कृपा करके महापुरुष उससे विषय वासना का त्याग कराते हैं और उपासना द्वारा उसके अन्तःकरण को प्रक्षालित करा लेते हैं तब वह ब्रह्मानन्द रूपी रस को प्राप्त करता है। और परमपद पाकर कृतार्थ हो जाता है। उस स्वाद को पाकर वह संसार के समस्त विषय सुखों को हेय समझता है।

हे सूत ! मैंने तुम्हें सत्सङ्ग का महात्म्य बताया। मोक्ष का का मुख्य साधन सत्सङ्ग ही है। अब तुम्हें मैं अपने आदि से लेकर अब तक के भाषण का सारांश बतलाता हूँ।

पूर्वकाल की बात है कि सत्यलोक में ब्रह्मा की सभा में इस ज्ञान विषय पर सूक्ष्माति सूक्ष्म विचार हो रहा था ब्रह्मा के इस ज्ञान सत्र में भृगु, अङ्गिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक, पाराशर, कण्व, काश्यप, दक्ष, सुमन्त, शङ्ख तथा देवल आदि अनेक महर्षि उपस्थित थे। वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय उपस्थित कर उन लोगों ने बड़ी भारी मीमाँसा की। ऋषियों ने ब्रह्मा से प्रश्न किया कि भगवन् ! हम सब लोग ज्ञानी और परम तत्व को जानने वाले हैं परन्तु हम सब लोगों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होने के कारण आचरण भिन्न भिन्न हैं। हममें अनेक समाधिस्थ रहते हैं, अनेक मीमाँसा तर्क करने में लगे रहते हैं, कुछ भक्ति प्रेम में निमग्न रहते हैं और कुछ लोग उत्साहपूर्वक कर्ममार्ग से ही चलते हैं। आप बताइये इनमें कौन श्रेष्ठ हैं ?

अभी तो हम सब लोग अपने अपने लिये अपना ही पक्ष श्रेष्ठ समझते हैं ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्मा जी ने अपने मन में विचार किया कि इन ऋषियों की हम पर पूर्ण निष्ठा नहीं है। हमारे निर्णय से शङ्का रह जावेगी। अतएव वे बोले—मुनियों ! मैं भी ठीक ठीक इस तत्व को नहीं जानता, सर्वज्ञ महादेव को यह बात पूर्णतया
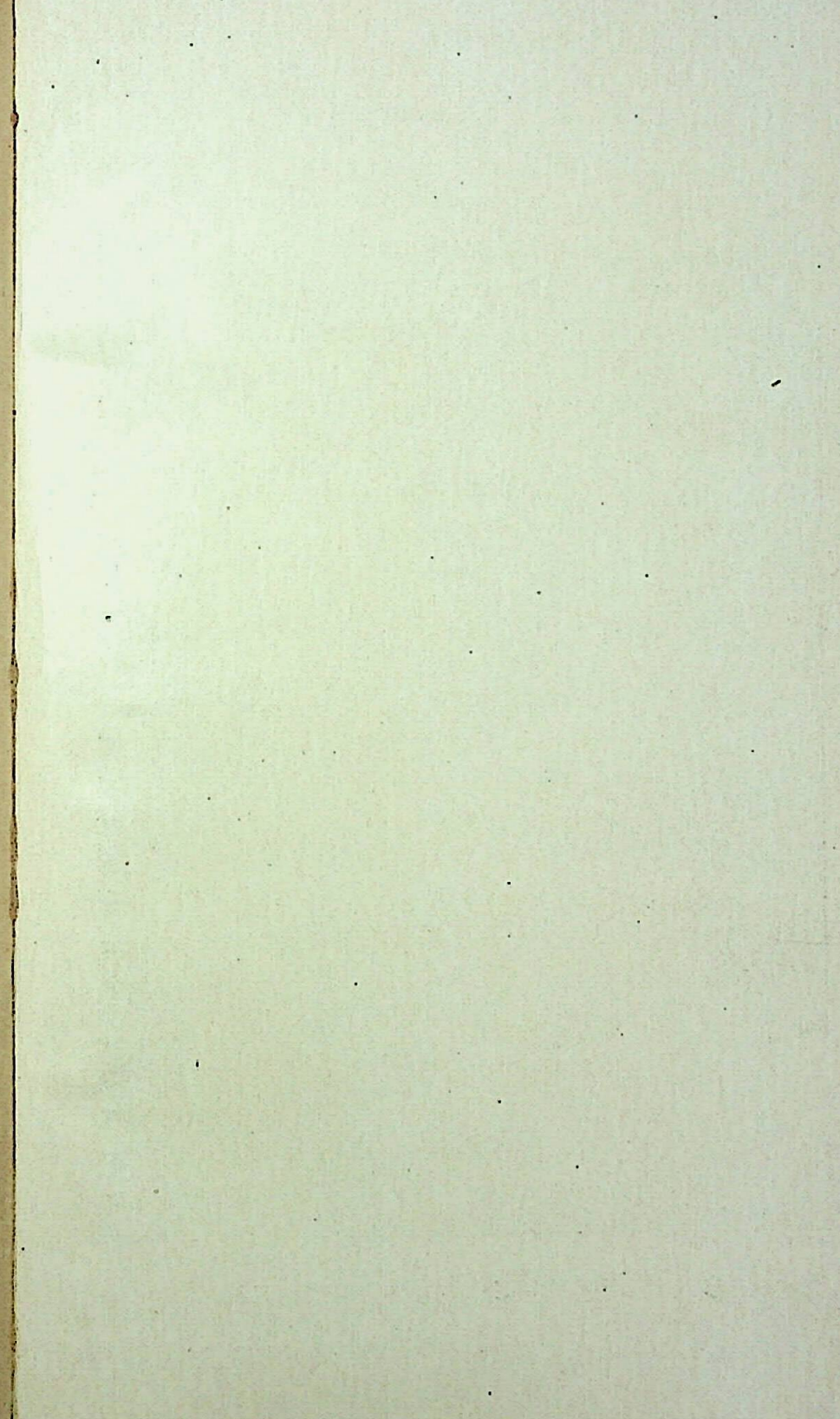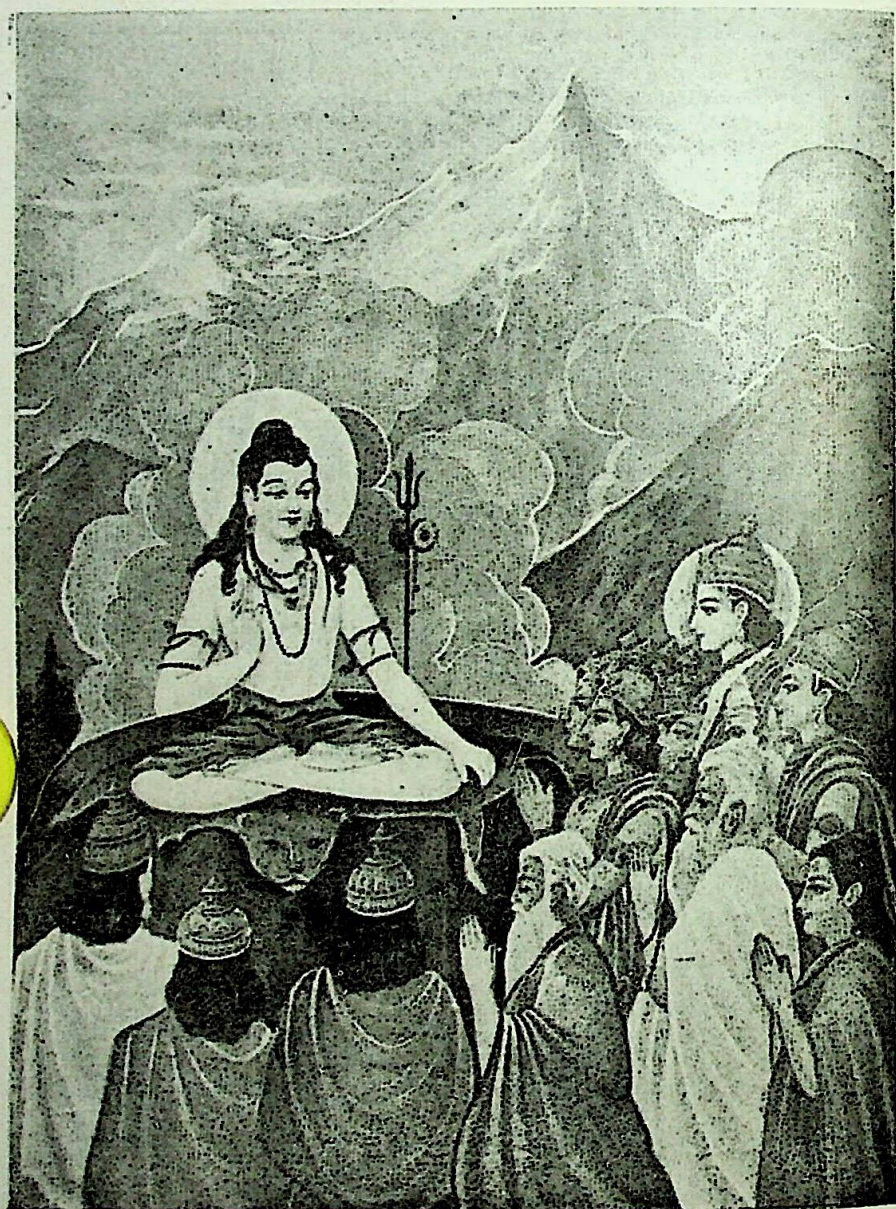
❀ ब्रह्मा, विष्णु तथा ऋषियों की शिव जी से प्रार्थना ❀

मालूम है। अतः उन्हीं से यह प्रश्न किया जावे। यह कहकर ब्रह्मा जी ऋषि मण्डली के साथ उस देवाधिदेव महादेव के पास गये। वहाँ श्री विष्णु भी समुपस्थित थे। विष्णु समेत ब्रह्मा ने ऋषियों के प्रश्न को जानने लिये सभी शङ्कर से प्रार्थना करने लगे। प्रश्न को सुनने से और ब्रह्मा के आशय को समझने पर महादेव को भी ज्ञात हो गया कि यह ऋषिगण श्रद्धावान् नहीं हैं। वह समझ गये कि मेरा कथन इन्हें सत्य नहीं लगेगा। मेरे कथन को मेरा एक मत समझ लेंगे। अतः महादेव बोले—हे मुनियो ! मैं भी इस विषय को ठीक नहीं समझता। यदि इस रहस्य को जानना है तो हम सब लोग तत्वस्वरूप श्री ब्रह्मदेव का ध्यान करें, उनकी कृपा से हमें सब "गूढ़ रहस्य समझ पड़ेंगे।" महादेव की बात सभी ने स्वीकार कर ली। सभी ऋषि गण तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी देवताओं ने परात्पर चित्स्वरूप ब्रह्मदेव के ध्यान में मग्न हो गये।

कैलाश की उतुङ्ग श्रेणी पर सभी ध्यानस्थ थे। जाज्वल्यमान् तेजस्वी ऋषियों एवं देवताओं की कान्ति से वह शैल देदीप्यमान् हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि ब्रह्माण्ड भर का तप तेज यहाँ एकत्रित हो गया हो। सभी ब्रह्मदेव की उपासना में निरत थे। उन सब के प्राण सूक्ष्म गति से चल रहे थे। समष्टि वायु भी निस्पन्द हो गई थी। पशु पक्षी यावज्जीव परम शान्त थे। पवन की श्वास भी बन्द थी। मानों सारी प्रकृति ब्रह्मदेव के उपदेश सुनने की प्रतीक्षा कर रही हो।

कुछ देर में आकाश मण्डल में मेघ गर्जना सदृश एक गम्भीर ध्वनि उद्भूत हुई। सभी की समाधि भङ्ग हुई। आकाश मण्डल में एक दिव्य उज्ज्वल स्निग्ध प्रकाश सभी ने देखा। ब्रह्मदेव शब्द रूप में प्रकट हुये। सभी करबद्ध खड़े होकर गम्भीर मधुर ध्वनि की ओर सतृष्ण नयनों से देखने लगे। गगन से पुनः व्यक्त रूप से मधुर ध्वनि आई। "मुनियों ! आप लोगों ने मेरा ध्यान क्यों किया है। अपना

मनोरथ बताइये !" मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती। आकाशवाणी को सुनकर मुनिमण्डली ने उस परात्पर ब्रह्मदेव को नमस्कार किया। सभी देवों ने भिन्न भिन्न प्रकार से स्तुतियाँ की।

ऋषियों ने स्तुति प्रारम्भ की हे तत्वस्वरूप ब्रह्मदेव ! तुम्हें हमारा साष्टाङ्ग नमस्कार है। तुम्हीं इस संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय हो। तुम अज हो, तुम्हारा कभी जन्म नहीं होता, तुत सदैव पुरातन हो, तुम्हें जरा नहीं, तुम नूतन हो। तुम सब कुछ हो। सर्वसार, सर्वाधार और सर्वज्ञ तुम्हीं हो। सर्वानन्दस्वरूप तुम्हीं हो। तुम्हीं सर्वशून्य कहीं भी न रहने वाले सार रहित कुछ न जानने वाले और सर्वानन्द वर्जित हो। ब्रह्मदेव तुम्हें बार बार प्रणाम है। आगे, पीछे, नीचे, ऊपर सभी दिशाओं से आपको प्रणाम है।

हे देव ! हमारे कुछ प्रश्न हैं, कृपा करके आप क्रमशः उनका उत्तर दीजियेगा। प्रश्न यह है कि......

(१) आप का पररूप कैसा है ?
(२) तथा आप का अपर रूप कैसा है ?
(३) आपका ऐश्वर्य क्या है, किस रूप में है ?
(४) आपका ज्ञान क्या है, कितना है ?
(५) आपके ज्ञान प्राप्ति का फल क्या है ?
(६) ज्ञान प्राप्ति का साधन क्या हैं ?
(७) मुख्य साधक कौन कौन हैं ?
(८) सिद्धि की पूर्णावस्था कैसे होती है ?
(९) सिद्ध पुरुषों में श्रेष्ठ कौन हैं ?

ऋषियों के प्रश्न सुनकर परात्पर ब्रह्मदेव प्रेमपूर्ण शब्दों में असंदिग्ध और उत्कृष्ट उत्तर देने लगे : मुनियों ! सुनो, तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर क्रमशः दे रहा हूँ। आज वेद सागर का मन्थन कर तुम्हारे लिये अमृत को निकाले देता हूँ।

(१) प्रथम मेरे पर रूप को सुनो। यह सब जगत् दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति उत्पन्न होता है। और वैसे ही लीन हो जाता है। आत्मज्ञान रहित पुरुषों को जो जगत् रूप आकार में प्रतीत होता है योग्य लोगों को जो निर्विकल्प मालूम होता है। यथार्थ में जो तत्व शान्त गम्भीर और निश्चल है। किसी भाँति की कामना न रखकर एक निष्ठ भक्त प्रेम पूर्वक जिसका सेवन करते हैं, जो अद्वैत पद है, अद्वैत पद ज्ञान हो जाने पर भी भक्त लोग जिसके लिये देवता और भक्त का भेद भाव उत्पन्न करते हैं। जो इन्द्रिय मन प्राण का अन्तः सूत्र है। जिसके अभाव से कुछ भी शेष नहीं रहता जो शास्त्रों के आधार से सामान्यतः जाना जाता है। जो सर्वत्र व्यापक सबके अन्तर बाहर है वही मेरा पररूप है।

(२) अब मेरा अपर रूप सुनो, समस्त ब्रह्माण्डों के आगे अमृत समुद्र है। उसमें रत्नों का द्वीप है। उस द्वीप में कदम्ब बन है। वन में चिन्तामणि का बनाया हुआ एक मनोहर मन्दिर है। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर इन चार पैरों वाला सदाशिवात्मक एक मञ्च है। उस पर अनादि परात्पर परब्रह्म मूर्ति विराजमान् है। वही मेरा अपर रूप है। तथा ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, गणपति, षड़ानन, इन्द्रादि दिग्पाल, लक्ष्मी, शक्ति, वसु, रुद्र गण, राक्षस, देव, नाग, यक्ष, किन्नर आदि जो जो पूज्य हैं, वे सब मेरे अपर रूप हैं। मैं सर्वत्र हूँ, परन्तु माया मोहित मनुष्य मुझे नहीं पहचानते। वे मेरी सेवा ही करते हैं और उनको अभीष्ट फल भी मैं देता हूँ। मेरे बिना न कोई पूज्य है, न कोई फलदाता है। जो जिस भाव से मेरा पूजन करता है वह मुझ से वैसा ही फल पाता है। यह मेरे अपर रूप का स्पष्टीकरण हुआ।

(३) मेरा ऐश्वर्य अमर्याद है। किसी की भी सहायता बिना एकाकी अपने चित्स्वरूप से अनन्त जगत् के आकार में भासमान होता हूँ। और अनन्त रूपों में भासमान होकर भी अपने स्वरूप से

विचलित नहीं होता। ऐसा असम्भव रूप बना लेना मेरा महत् ऐश्वर्य है। ऋषियो ! मेरा ऐश्वर्य महान् है। मन, बुद्धि उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। सबका आश्रय और सबका अन्तर्यामी होकर भी मैं सङ्ग रहित हूँ। नित्य मुक्त होकर भी मैं मुक्त होता हूँ। शुद्ध आत्म चैतन्य होकर भी सद्गुरु के पास जाकर शिष्यता स्वीकार कर पुनः आत्मस्वरूप का अनुसन्धान करता हूँ। आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर बहुत काल तक संसार में मग्न रहता हूँ। इस संसार को किसी भी साधन सामग्री के बिना निर्माण कर लेता हूँ। इस प्रकार मेरा अनेकरूप का ऐश्वर्य है। सहस्र-मुख वाला भी उसकी गणना नहीं कर सकता। संक्षेप में समझ लो कि मेरे ऐश्वर्य के एक लेश मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हो गई।

(४) मेरा ज्ञान द्वैत, अद्वैत आदि अनेक प्रकार का है। उसका फल भी श्रेष्ठ कनिष्ठ के भेद से भिन्न भिन्न है। द्वैत ज्ञान अनेक प्रकार का है। क्योंकि वह भिन्न भिन्न उपास्य मूर्त्तियों पर अवलम्बित है। उसे ध्यान और उपासना कहते हैं। वह स्वप्न अथवा कल्पना की भाँति क्षणिक अनुभव के हैं। अपने (तौल नाप) के अनुसार सफल होते हैं। उसके अनेक भेदों में प्रथम बताई हुई मेरी अपर मूर्ति का ध्यान मुख्य है, क्योंकि यह क्रम क्रम से मुख्य फल अर्थात् मोक्ष देता है। इसे क्रम मुक्ति कहते हैं। अद्वैत ज्ञान को ही मुख्यतः ज्ञान कहते हैं। परात्पर परतत्व की आराधना के बिना अद्वैत ब्रह्म विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। केवल परम चैतन्य ही अद्वैत ज्ञान है। उसी की शुद्धावस्था का ज्ञान होने पर द्वैत भावना की निवृत्ति होती है। इस ज्ञान का अनुभव चित्त के आत्माभिमुख होने से होता है। वेद वाक्यों की सहायता से तथा युक्तिपूर्ण विचारों द्वारा केवल आत्मा के भासित होने को तथा मैं शरीर हूँ। इस भावना के अत्यन्त नाश को ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा यह भासित होने वाला दृश्य संसार कहीं कुछ भी नहीं है ऐसा प्रतीत हो वही मेरा अद्वैत

ज्ञान है। उस ज्ञान को पाकर कुछ भी शेष नहीं रहता। सभी विषय सुखों का अनुभव जहाँ आत्मरूप रहता है वही सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञान से चिरकालीन दृढ़ सन्देह नष्ट हो जाते हैं कामादि वासनायें सम्मुख नहीं आतीं। दन्त विहीन सर्प के समान विषय सुख जिस ज्ञान के सामने व्यर्थ हो जाते हैं, वही मेरा परम ज्ञान है।

(५) ज्ञान का फल सब दुखों का सर्वदा नाश हो जाना है। अत्यन्त निर्भय अवस्था प्राप्त होना ही सच्चा फल है। यह कोई दूसरा है इसी भावना से भय होता है। सूर्योदय से अन्धकार नाश के सदृश ज्ञान से द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। द्वैत सङ्कल्प के नष्ट हो जाने पर कहीं भी भय नहीं रहता जिससे स्वस्वरूप से भिन्न फल मिलता है वह सदैव भय कारक है। क्योंकि आत्मस्वरूप को त्याग कर अन्य सब बातें नाशवान् हैं। नाशवान् वस्तु में निर्भयता नहीं होती। सब संयोगों के अन्त में वियोग होता है अतः फल के योग का भी नष्ट होना निश्चित है। फलतः जब तक फल आत्मस्वरूप न होकर अन्य स्वरूप का है तब तक भय है। जो आत्म स्वरूप से अभिन्न है वही निर्भय फल है। उसी को मोक्ष कहते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के एकरूप हो जाने पर सर्व भयरहित मोक्ष नामक सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है। ज्ञाता का सङ्कल्प विकल्प शून्य और मूढ़ता रहित शुद्ध आत्मस्वरूप ही ज्ञान है। वह स्वरूप पहले नहीं जाना जाता, गुरू और शास्त्र उसकी पहचान कराते हैं, यही ज्ञेय तत्व है। जब तक ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं तब तक सब व्यर्थ है। जब इन तीनों का परस्पर भेद नष्ट हो जाता है तभी वह ज्ञाता है। यही ज्ञान का फल है। वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, फल इनमें कोई भेद नहीं है। व्यवहार की सफलता के लिये इस भेद की कल्पना की गई है। तात्पर्य यह है कि यहाँ कुछ नया फल नहीं मिलता। जब तक यह आत्मा ही माया के कारण ज्ञाता,

ज्ञान, ज्ञेय और उसके फलादि रूपों में भासित होता है तब तक यह संसार पर्वत के समान कठिन है। परन्तु जब सद्गुरु कृपा तथा अपने परिश्रम से भेद शून्य स्वरूप भासमान होता है तब जल में मिश्री की भाँति यह सारा संसार विलीन हो जाता है।

(६) ऐसे सत्यफल मोक्ष को प्राप्त करने के लिये मुख्य साधन उसके सम्बन्ध में तत्परता है। तीव्र तत्परता होने पर अन्य साधनों की कुछ भी आवश्यकता नहीं। उत्कट तत्परता न होने पर अन्य सहस्रों साधनों से कुछ भी नहीं हो सकता। तत्पर होना ही मोक्ष का मुख्य साधन है। "सब कुछ करूँगा परन्तु इस कार्य को अवश्य सिद्ध करूँगा" ऐसा निरन्तर अनुभव करते रहना ही तत्परता है। जिसकी निरन्तर ऐसी अवस्था है वह सर्वथा मुक्त है, क्योंकि वह कुछ दिनों में या कुछ महीनों में, कुछ वर्षों में अथवा दूसरे जन्म में मुक्त होने ही वाला है। जो मार्ग में लग चुका है वह अवश्य प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेगा। देरी इतनी है कि निर्मल बुद्धि वाले शीघ्र और अल्प बुद्धि वाले विलम्ब से यात्रा समाप्त करते हैं। सब उद्योगों को नाश करने वाला यह बुद्धि सम्बन्धी दोष कई प्रकार का होता है। उसी के कारण मनुष्य घोर संसाराग्नि में जल रहे हैं। उनमें प्रथम दोष अविश्वास, संशय, विपर्यय है। इस प्रकार के दोष दो रूप में हैं। उपर्युक्त तत्परता के लिये यह दोनों मुख्य बाधायें हैं। विपरीत निश्चय करने पर इन दोनों का क्रमशः नाश होता है। उनके नाश करने का मुख्य उपाय इनके मूल का ही विनाश कर डालना है। अविश्वास का मूल शास्त्र विरुद्ध तर्कों को खोजना है। उसका त्याग कर सतर्क विचार करने के लिये उसके विरोधी तर्कों के विरुद्ध निश्चय करना पड़ता है। ऐसा करने पर श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। और अविश्वास नष्ट होता है। बुद्धि पर कामादि वासनाओं के पुट होने पर श्रवण में बाधा पड़ती है। ऐसी बुद्धि प्रायः ज्ञान की ओर प्रवृत्त नहीं होती। व्यवहार में भी

देखा जाता है कि कामी पुरुष अपने प्रिय विषय में इतना लीन हो जाता है कि अपने सामने कुछ भी दीख नहीं पड़ता, न सुनाई पड़ता है। अतः उनका श्रवण करना न करने के बराबर है। इस काम वासना को वैराग्य बल से नाश करना चाहिये। यह काम, क्रोध, लोभ, दम्भ आदि हजारों हैं, सबका मूल काम है। इसके नष्ट हो जाने पर अन्य सभी अल्प प्रयत्न से नष्ट हो जाते हैं। यह वैराग्य से नष्ट होता है। "मुझे यह मिलना चाहिये" ऐसी जो आशा होती है, वही काम है। वह प्राप्त पदार्थों के सम्बन्ध में स्थूल और अप्राप्त पदार्थों के सम्बन्ध में सूक्ष्म रहती है। उसे दृढ़ वैराग्य से दूर करना चाहिये। वैराग्य का मूल प्रतिक्षण काम्य विषयों के दोषों का विचार करना और उन विषयों को त्याग करना है। इस प्रकार से विषय वासनायें नष्ट होती हैं। बुद्धि का तीसरा दोष जड़ता है, इसे अभ्यास से भी जीतना कठिन है। इस दोष के रहने पर बड़ी तत्परता से श्रवण करने पर भी बुद्धि में कुछ प्रवेश नहीं होता। यह पुरुषार्थ का नाश करने वाला बड़ा दोष है। इसके लिये परमेश्वर की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं। देवता की शक्ति से बुद्धि की जड़ता दूर होती है। मेरी उपासना करने से मैं जड़ता दूर करता हूँ, इस जड़ता की न्यूनाधिकता के कारण फल प्राप्ति में न्यूनाधिक समय लगता है। ऋषियों! किसी भी पुरुष की सारी साधन सामग्री मेरी कृपा से प्राप्त होती है। जो पुरुष मेरी उपासना निष्काम बुद्धि से भक्ति पूर्वक करता है, उसकी साधन सम्बन्धी समस्त कठिनाइयाँ मैं शीघ्र दूर कर देता हूँ। जो मनुष्य अनेक साधनों को करता हुआ भी सब बुद्धियों को विकसित करने वाले ब्रह्मदेव को लक्ष नहीं बनाता उसकी बुद्धिमन्दता दूर नहीं होती। वह पग पग पर ठोकरें खाता है। उसे कभी फल प्राप्त नहीं होता। सारांश यह है कि ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर की हुई तत्परता ही मोक्ष का मुख्य साधन है।

(७) जिसमें उपर्युक्त रूप से तत्परता है, वही मुख्य साधक है। फिर यदि उसमें मेरी भक्ति भी हुई तब तो वह सर्वमान्य है ही।

(८) "मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ" ऐसा निश्चय करना सिद्धि है। देहादिकों में भासित होने वाले आत्मत्व के नष्ट हो जाने पर बुद्धि निर्मल हो जाती है, तब सिद्धि स्वयं हो जाती है। आत्मा के सम्बन्ध में सभी का निश्चय है अर्थात् सब यह जानते हैं कि वे हैं, परन्तु यह निश्चय केवल स्वरूप से न हो कर शरीरादि से होता है। इसीलिये बड़ी भारी अनर्थ परम्परा होती चली आई है। अतएव देहादिकों को भासित करने वाला जो केवल चैतन्य है वही आत्मा है। ऐसा निश्चय होकर सब संशयों के नष्ट हो जाने को ही ज्ञान सिद्धि कहते हैं। खेचरत्व और अणिमादि सिद्धियाँ इस ज्ञान सिद्धि के षोडशांश के भी बराबर नहीं। ये सब सिद्धियाँ विशिष्ट देश काल से मर्यादित रहती हैं। इनके सामर्थ्य का अनुभव अमुक स्थान और अमुक समय में ही हो सकता है, परन्तु यह शिवस्वरूप आत्म सिद्धि अमर्यादित है। आत्म ज्ञान का साधन करते करते अणिमादिक क्षुद्र सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु आत्म ज्ञान की प्राप्ति में वह विघ्नकारक हैं। इन्द जाल सदृश इन सिद्धियों से स्वहित क्या हो सकता है। आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर जिसे ब्रह्मा का अधिकार भी तृण के समान प्रतीत होता है, उसके लिये यह सिद्धियाँ क्या चीज हैं। अतएव आत्मज्ञान के सिवा दूसरी सिद्धि ही नहीं है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि जिससे दुखों का नाश सदा के लिए हो जाता है। आनन्द से हृदय गद्गद् हो जाता है। मृत्यु से अवकाश मिल जाता है। वही सच्ची सिद्धि है। यह ज्ञान सिद्धि विविधि अभ्यास भेद के कारण बुद्धि की निर्मलता की न्यूनाधिकता के कारण और ज्ञान की परिपक्कता के तारतम्य के कारण उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की है। व्यवहार करते समय जिस सिद्धि के द्वारा तत्वानुसन्धान नहीं करना पड़ता,

जहाँ स्वभावतः ही वह होता रहता है, वह उत्तम ज्ञान सिद्धि है। जहाँ अनुसन्धान करना पड़ता है वह मध्यम ज्ञान सिद्धि है। और जहाँ व्यवहार किञ्चित् भी नहीं होता और बारम्बार स्वरूप का अनुसन्धान करना पड़ता है, वह कनिष्ठ ज्ञान सिद्धि है। वस्तुतः स्वरूपतः इनमें कुछ भी भेद नहीं है। उत्तम सिद्धि ही सिद्धि की पराकाष्ठा है, जो स्वप्नादि अवस्थाओं में भी सत्य रहती है। जिसका अनुभव विचार होते ही होने लगता है वह स्वरूप सिद्धि सर्वश्रेष्ठ है। पूर्व संस्कार वश जब सब व्यवहारों में स्वयं ही बिना हेतु के प्रवृत्ति होने लगती है तब उसे सिद्धि की पराकाष्ठा समझनी चाहिये। जब प्रयत्न विना ही संवित् आत्मा में अखण्ड स्थिति होने लगती है, तब समझना चाहिये कि सिद्धि मर्यादा तक पहुँच गई। व्यवहार करने पर और पदार्थों का अनुभव लेते रहने पर भी जब द्वैत भासित न हो तभी पूर्णावस्था की सिद्धि होती है। जाग्रत में व्यवहार करते समय निद्रा की भाँति अन्तःकरण में स्वस्थ्यता होना ज्ञान सिद्धि की पूर्णता का लक्षण है।

(९) जिसकी पूर्वोक्त स्थिति हो, वह उत्तम सिद्ध है। व्यवहार करते समय भी जिस बुद्धिमान् की समाधि कभी भङ्ग न हो, वह उत्तम सिद्ध है। जो भिन्न-भिन्न ज्ञानियों की भिन्न-भिन्न स्थितियों को अपने अनुभव से समझले, जो सन्देह और इच्छा रहित है, वह उत्तम सिद्ध है। जो व्यवहार में निर्भय है, जो सब दुःख सुखों को तथा संसार के अनेक व्यवहारों को अपने ही ऊपर भासित समझता है, वह पूर्ण सिद्ध है। जो अत्यन्त बद्ध और पूर्ण मुक्त सभी को अपना स्वरूप समझता है, वह सर्वात्मा सर्वोत्कृष्ट है। जो अपने ऊपर फैले हुये बन्धन जालों को हटाने की चेष्टा अन्य लोगों की भाँति नहीं करता, क्योंकि उनसे उसे पीड़ा नहीं हो सकती, वह सब में श्रेष्ठ सिद्ध है। अधिक क्या कहूँ, वह उत्तम सिद्ध मैं ही हूँ।

तुम लोगों के प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर हो चुका। इस रहस्य को ठीक-ठीक समझ लेने पर किसी को कभी भी मोह नहीं होगा।

इतना कह कर परात्पर देव ने अपना भाषण समाप्त किया, उसे सुन कर सब ऋषियों ने अपने सन्देह को छोड़ दिया। सब ने ब्रह्मदेव को प्रणाम किया और वे अपने-अपने स्थान को चले गये।

सूत ! मैंने तुझे ब्रह्म गीता सुनाई। इसके सुनने से पापों के समूह का नाश होता है और उत्तम प्रकार के विचार करने पर स्वानन्द स्वाराज्य की प्राप्ति होती है, इसे साक्षात् ब्रह्मदेव ने प्रकट किया, अतएव वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका नित्य पाठ करने से वह सन्तुष्ट होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान ही करा देता है। सूत ! संसार सागर में डूबने वाले के लिये यह एक उत्कृष्ट जहाज है।

त्रयोविंशतिरध्यायः

चेतन ही सार

सिद्धान्त सारः प्रतिपादितोऽयम् ।
ब्रह्मैव सत्यं जगदस्ति मिथ्या ॥
जीवेशयोः कोऽपि न कुत्र भेदः ।
संसार तत्वन्तु चिदात्मकत्वम् ॥२३॥

श्री वेदव्यास के सारगर्भित भाषण को सुनकर सूत जी परम प्रसन्न हुये । वे बोले—भगवन् आपने सभी रहस्यों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । अब हमारे सम्मुख शुद्ध चैतन्य ही सर्वत्र भास रहा है । उसी का सत्स्वरूप मैं देख रहा हूँ । जड़, चेतन किसी भी पदार्थ में मुझे भेद नहीं प्रतीत हो रहा है । परन्तु बोलते अथवा व्यवहार करते समय मैं उस स्थिति पर नहीं रहता, मेरे अनुभव में यह बात नहीं आती कि स्वात्मचैतन्य में स्थिति होकर व्यवहार कैसे किया जा सकता है । व्यवहार काल में आत्मस्थिति होना बड़ा कठिन है । प्रकाश और अन्धकार एक रूप कैसे हो सकते हैं । यह बात आप मुझे स्पष्ट करके पुनः बता दीजिये तथा अन्य कोई गुह्य रहस्य की बात हो, वह भी कह दीजिये ।

सूत जी की बात सुनकर व्यास जी हँस पड़े, और बोले—सूत ! तेरा भ्रम अब भी दूर नहीं हुआ । सावधान होकर सुनो, तुम्हें गुह्य तत्व बता रहा हूँ । जिससे तुम्हारा यह भ्रम भी दूर हो जावेगा । अरे ! विचार करो आत्मस्वरूप जानने वाले ज्ञानी को

सांसारिक व्यवहारों से क्या बाधा हो सकती है ? यदि इन व्यवहारों से ज्ञानी को बाधा होती तब तो यही कहना पड़ेगा कि ज्ञानियों को सदैव समाधि में रहना चाहिये। परन्तु स्वप्न तुल्य अर्थात् उत्थान-काल में नष्ट होने वाली समाधि अवस्था से पुरुषार्थ का उपयोग ही क्या हो सकता है। जब सब व्यवहार केवल ज्ञान के आधार पर हो रहे हैं, तब वे ज्ञान को बाधा कैसे पहुँचा सकते हैं। जिस स्वरूप पर जगत् भासमान् होता है वही ज्ञान है, उसी पर सङ्कल्प के अनुसार व्यवहार भासमान् होता है। यह निश्चय है कि निःसङ्कल्प अवस्था में बुद्धि को उस परमरूप का एक बार परिचय हो जाने पर पुरुष बन्धन मुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है। हे सूत ! तुम इस भ्रम को त्याग दो।

सूत जी बोले—हे भगवन् ! आपके कथनानुसार मुझे यह निश्चय तो हो ही चुका है कि सर्व विकल्प रहित संवेदन ही आत्म-स्वरूप है। परन्तु यह नहीं समझ में आया कि निःसङ्कल्प अवस्था को त्याग कर सविकल्प अवस्था में आते समय प्रथम निवारण किया हुआ भ्रम पुनः क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? जैसे रस्सी पर साँप का, वैसे ही निर्विकल्प स्वरूप पर विकल्प का भासित होना भ्रम कहलाता है। वह विकल्पावस्था में ज्ञानियों को बद्ध क्यों नहीं करेगा ? अर्थात् विकल्पावस्था में वह भ्रम ज्ञानी के समीप भी होना चाहिये ?

व्यास जी मुस्कराकर बोले—सूत ! तू यह नहीं जानता कि भ्रम किसे कहते हैं ? और अभ्रम कसे कहते हैं। सुन, जो यह जानते हैं कि आकाश क्या है, उन्हें भी वह नीला मालूम होता है और वह नीला आकाश समझकर व्यवहार भी करते हैं। परन्तु उनके व्यवहार से यह नहीं कहा जावेगा कि आकाश के सम्बन्ध में जो उनका ज्ञान है वह भ्रान्ति हैं। वह मूढ़ लोगों के सम्बन्ध में भ्रान्ति और तत्वज्ञानियों के सम्बन्ध में 'प्रमा' कहाती है।

मूल मर्म को जान लेने पर यह दृश्य भय और हर्ष उत्पन्न करने में असमर्थ है। वही ज्ञान "प्रमा" है। जिससे सत्यता रूपी प्राण निकल गये हैं, वह व्यवहारी ज्ञान मृत सर्प की भाँति नितान्त निरुपद्रव है। ज्ञानियों का व्यवहार दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति होता है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही भेद है। ज्ञानियों का यह व्यवहारात्मक ज्ञान उनका स्वयं सङ्कल्प अथवा "प्रमा" है परन्तु वही अज्ञानियों का भ्रम है। ज्ञानियों का सब व्यवहार ज्ञानरूप होता है। उन्हें भ्रान्ति होना सम्भव नहीं। यदि तू समझता है कि ज्ञान हो जाने पर सब दृश्यों का लोप हो जाता है यह बात नहीं। ज्ञान से दृश्य में अज्ञान जन्य भावना की निवृत्ति होती है। भिन्न भिन्न दोषों से जो कुछ उत्पन्न हो गया है, तो ज्ञान हो जाने पर उसका नाश कैसे हो सकता है। तिमिर रोग वाले व्यक्ति को एक पदार्थ का ज्ञान होते हुये भी दो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। एक वस्तु का दो रूप में दिखाई पड़ना अज्ञान का परिणाम न होकर एक "नेत्रदोष" है, फिर वह ज्ञान होने पर कैसे दूर हो सकता है। इसी प्रकार यह जगदाभास जीवों के कर्म रूपी दोष के कारण उत्पन्न हुआ है अत एव कर्मों के नाश होने तक व्यवहार का बन्द होना असम्भव है। कर्म के लय होते ही एक अद्वैत चैतन्य शेष रह जाता है। सारांश यह है कि सांसारिक व्यवहारों के कारण ज्ञानियों की कोई हानि नहीं हो सकती।

सूत बोले—महाराज! आप प्रथम कह चुके हैं कि ज्ञानियों से तो कर्म ही नहीं हो सकता। ज्ञानाग्नि का स्पर्श हो जाने पर कर्म रूपी कपास कैसे रह सकती है। फिर व्यवहार कैसा होता हैं?

व्यास जी बोले—सूत! इसका रहस्य तू नहीं समझा। सुनो, मैं बताता हूँ। सब ज्ञानियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। अपक्व, पक्व और हतोदित। ज्ञान के योग से पक्व कर्म को छोड़ कर शेष दोनों नष्ट हो जाते हैं। "नियति योजना" काल से कर्मों को पक्व

करने वाली है। काल ने जिन्हें परिपक्वता में अर्थात् फल रूप में पहुँचा दिया है, वे पक्व कर्म हैं। जो परिपक्व न हुये हों अर्थात् जिन्हें फल का स्वरूप न मिला हो वे अपक्व कर्म हैं। और ज्ञानी द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के उपरन्त जो कर्म किये जाते हैं, वे "हतोदित" हैं। यह कर्म उदित होते ही ज्ञान से हत् अर्थात् भस्म कर दिये जाते हैं। पक्व कर्मों को प्रारब्ध भी कहते हैं। धनुष से छूटे हुये बाण की भाँति वे अपने फल सुख दुख आदि परिणाम देने के लिये सिद्ध रहते हैं। यह जगदाभास उसी के कारण निर्माण हुआ है, वह भ्रान्ति रूप है। अब और सुनो! ज्ञान में "तर तम" का भाव रहता है अतएव यह प्रारब्ध कर्म जनित जगदाभास ज्ञानी को सुख दुःखात्मक भिन्न भिन्न फल देता है, परन्तु भ्रान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। यह भिन्न भिन्न फल क्या है, उसे भी सुनो! मन्द ज्ञानियों को उन प्रारब्ध कर्मों का फल तत्काल अनुभव में आता है। मध्यम ज्ञानियों को उनके फलों का साधारण आभास होता है। उत्तम ज्ञानियों को उनका स्पष्ट भास होने पर भी सुख दुःखादि परिणाम का अनुभव नहीं होता। क्यों कि वे उसे निश्चयपूर्वक असत्य जानते और मानते हैं। कर्म के सुख दुखादि फलों पर अज्ञानी लोगों का पूर्ण ध्यान रहता है। अतएव उनके कर्मफल अनुभव में आने वाले अर्थात् पुष्ट होते हैं। ज्ञानियों का ध्यान नित्य आत्मानुसन्धान में लगा रहता है। अतएव इन वाह्य कर्मों के फल पर उनका मन नहीं रहता। फलतः मन्द ज्ञानियों के भी कर्मफल अज्ञानियों के कर्म-फल की भाँति विशेष पुष्ट नहीं होते। और न स्पष्ट अनुभव देने में समर्थ होते हैं। यह प्रारब्धजन्य फल मध्यम ज्ञानियों को अत्यन्त सूक्ष्मता से अनुभव में आता है, जैसे निद्रा में मच्छर आदि काटने का सूक्ष्म अनुभव होता है उत्तम ज्ञानियों को प्रारब्धजन्य सुख दुख जली हुई रस्सी की भाँति असमर्थ रहते हैं। उत्तम ज्ञानियों की स्थिति फल प्राप्ति के समय और उससे पूर्व दोनों अवस्थाओं में समान रहती हैं। रङ्गभूमि पर अभिनय करते समय जैसे कोई पुरुष

दूसरे के रूप में ऊपर से आनन्द और शोक करता है परन्तु भीतर से आनन्दित अथवा दुखी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी भी सुख दुःख आदि से व्याप्त होने पर भी भीतर से विकृत नहीं होता। वह आत्मस्थिति में निमग्न रहता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप न जानने के कारण अज्ञानी शरीर को ही आत्मा समझते हैं। उनकी धारणा के अनुसार दृश्य सत्य होता है। मन्दज्ञानी जानते हैं कि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और संसार असत्य है। परन्तु मन्द ज्ञानियों का अभ्यास अपूर्ण होने से उनकी पूर्व वासनायें इनके ज्ञान का विरोध करती हैं। फलतः इन्हें कभी कभी शरीर में आत्मत्व और संसार में सत्यता प्रतीत होने लगती है। परन्तु वे ज्ञान विचार से इस भ्रामक दृष्टि को स्वच्छ कर लेते हैं। इनमें सत्य और मिथ्या दोनों भावनायें एकत्र रहती हैं। अतएव उन्हें फलों का स्पष्ट अनुभव होता है। परन्तु मन्द ज्ञानियों की भी यह दोनों भावनायें समान शक्ति की नहीं होती। सत्पदार्थ आत्मस्वरूप की भावना से असत्पदार्थ संसार की निर्बल रहती है। अतएव असत्पदार्थ की भावना ज्ञान से सदैव पराजित रहती है अतः ज्ञान हो जाने से असज्जगत् भावना से वह बाधित नही होते ज्यों ही असद्भावना के संसर्ग से आत्मस्वरूप का विस्मरण होता है त्यों ही उसे व्यर्थ भ्रमात्मक समझकर मन्द ज्ञानी निश्चय से सत्य भावना का ही अवलम्ब करते हैं। मध्यम ज्ञानियों को न तो स्वरूप की विस्मृति होती है और न जगत् का भास होता है। प्रयत्न करके वे कभी कभी स्वरूपानुसन्धान त्याग कर देह स्थिति पर आते हैं। यह स्थिति उनकी सिद्धावस्था पर होती है। जब वे साधक अवस्था में रहते हैं, तब वे जैसे जैसे अपने अभ्यास को बढ़ाते जाते हैं, वैसे वैसे उन्हें अपने स्वरूप की विस्मृति कम होती है और पूर्णावस्था में तो वे प्रयत्न करने पर भी देह पर नहीं आते।

उत्तम ज्ञानियों की समाधि और व्यवहार में एक ही दशा रहती है। उनका अखण्ड आत्मानुसन्धान होता है। नित्य समाधि में

रहने वाले मध्यम ज्ञानी का आत्मानुसन्धान साँसारिक व्यवहारों के समय कुछ मलिन हो जाता है, परन्तु उत्तम ज्ञानी व्यवहार के समय भी आत्मानुसन्धान से किञ्चित् भी च्युत नहीं होता। वस्तुतः उत्तम और मध्यम ज्ञानियों के अन्तःकरणों के अनुभव की दृष्टि से उनका कोई कर्म ही नहीं रहता। क्यों कि वे पूर्णता तक पहुँच चुके होते हैं। वे संवित् आत्मस्वरूप को छोड़कर कुछ भी नहीं देखते। फिर उनका कर्म कैसे रह सकता है, वह तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है। जादूगर के खेल के सदृश वह केवल दूसरों को दिखाई पड़ता है, इसका रहस्य संक्षेप में सुना रहा हूँ।

जो शिव की दृष्टि है, वही इन ज्ञानियों की दृष्टि है, अन्तर किञ्चित् भी नहीं है। अतएव ज्ञानियों को कुछ भी कर्म भासित नहीं होते, वे कर्म करते हैं अथवा नहीं यह लोक दृष्टि का विचार है। वे आत्मा में निमग्न, शान्त, सुस्थिर रहते हैं। कर्म प्रारब्धवश अथवा अभ्यास वश स्वयं चलते रहते हैं। सूत! अब तो तुम क्या सुनना चाहते हो।

इस भाषण को सुनकर सूत बोले—भगवन्! आपने हमें सब कुछ बता दिया है, अब मेरा हृदय पूर्ण तृप्त है। आपके श्री मुख से निकले हुये ज्ञानामृत को पान करके मैं परम तृप्त हो रहा हूँ। मुझे अनुभव हो रहा है कि माला में सूत्र की भाँति सर्वत्र अनुस्यूत आत्मा चेतन ही सर्वस्व है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। हमें अब आप एक बार में सम्पूर्ण रहस्यों का सार बता दीजिये, जिससे उपर्युक्त भाषण को उन सूत्रों द्वारा स्मरण कर सकूँ।

श्री वेदव्यास पुनः बोले—हे सूत! सुन, अब अन्त में सब बातों का साराँश दे रहा हूँ।

जो परम समर्थ और पूर्ण अहन्ता धारण करने वाला ब्रह्मदेव है वह स्वेच्छा से अथवा स्वतन्त्रता नामक अपनी माया शक्ति के अद्भुत प्रभाव से दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति अपने ही आत्मरूप

पर जगत् को भासित करता है। प्रथम वह परम चैतन्य पूर्ण अहन्ता के कारण विस्तृत था। फिर उसने अपनी इच्छा से उसने अपने को दो रूपों में प्रकट किया। इनमें से जब एक अँश में "अपूर्ण अहंभाव" प्रकट हुआ तब उस अहंम्भाव से बाहर होकर उसका प्रतियोगी दूसरा भाग अहं स्फूर्ति रहित अचेतन होकर उस प्रथम अँश की दृष्टि से बाह्य और अव्यय होकर रहने लगा। सूत ! इस अपूर्ण अहम्भावात्मक प्रथम अँश का नाम सदाशिव है। इस अव्यक्त और सत्तत्व को अपने से भिन्न देखकर भी यह सदाशिव मैं हूँ ऐसा एकता का अभ्यास निरन्तर करने लगा। आगे चल कर उसकी इच्छा जगत् उत्पन्न करने की हुई तब अन्य अव्यक्त तत्व की देह पर "वह मेरी देह नहीं है" वह मैं ही हूँ यह धारणा रख कर उसने उसी भावना को दृढ़ किया। अतएव अहम्भावना से अव्यक्त तत्वों में समाविष्ट ईश्वर ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन तीन रूपों में हो गया। फिर दृश्य और दृष्टा की बड़ी-बड़ी राशियों के समुदाय स्वरूप ब्रह्माण्डों को भासमान करने वाले अनेक विष्णु हो गये, उनके संहार के लिये अनेक रुद्र हुये। इस प्रकार यह जगत् आकार वाला हो गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि दर्पण में केवल प्रतिविम्ब की भाँति यह जगत् भासित हो रहा है। वस्तुतः कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। एक परम चैतन्य पूर्ण अहम्भाव में स्थित है। वही अनेक अपूर्ण अहङ्कारों के रूप से आत्मस्वरूप में (अर्थात् अपने से अपने में) विकसित हो रहा है। हे सूत ! सम्पूर्ण शरीर में अहम्भाव से व्यापक होकर भी तुम जैसे नेत्र आदि भिन्न-भिन्न अँशों (अङ्गों) पर अहङ्कार करके क्रियायें करते हो, उसी प्रकार पूर्ण अहन्ता रूपात्मक होकर भी एक परम संवित चैतन्य ज्ञान ब्रह्मा से लेकर शुष्क लकड़ी तक में अपूर्ण अहङ्कार में स्थित है। यह सब जो भासमान् हो रहा है वह एक चैतन्य ही है। सारे शरीर पर अहम्भाव रखने के कारण जैसे तुझ में रूप, रस आदि ग्रहण करने

की शक्ति नहीं होती। जब तुम इन्द्रियों में तादात्म्य प्राप्त करते हो तब तुम रूपादि का ग्रहण करते हो। उसी प्रकार यह सदाशिव स्वयं सब भेदों से रहित होकर भी ब्रह्मा से चींटी तक सब जीव राशियों से आन्तरिक तादात्म्य प्राप्त कर जानने वाला ज्ञाता, करने वाला कर्ता हो जाता है। सूत! जैसे तेरा शुद्ध निर्विकल्प स्वरूप सबका आश्रय होकर भी स्वयं न कुछ जानता है और न कुछ करता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार का आश्रय होकर भी परम संवित् न तो जगत् रूपी भेद को जानता है और न उसका कर्तृत्व लेता है। वह सब जगत् दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति उसी पर उसी की इच्छा से भासमान होता है। अतएव जैसे प्रतिबिम्ब को देखना दर्पण को ही देखने के समान है, वैसे ही जगत् का भास उसी का भास है। यहाँ रहने वाला तू अथवा मैं और सब द्रष्टा केवल दृङ् मात्र हैं। दृश्य सम्बन्ध के अभाव में शुद्ध चिति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। घट आदि प्रतिबिम्बयुक्त दर्पण घट के सम्बन्ध के न रहने पर जैसे स्वयं शुद्ध और एकाकी रहता है, भेद केवल प्रतिबिम्ब भर का है, उसी प्रकार विकल्प से उत्पन्न दृश्यभास के निरसन होते ही शेष परम संवित् अकेला अद्वैत रह जाता है। उसमें दुःख के स्पर्श का लेश भी नहीं है। वह महा आनन्द घन है। सब लोग उसे पाने की इच्छा करते हैं। इससे उसका परम आनन्द रूप होना विदित होता है। सुख ही आत्मा का स्वरूप है और सभी सुख की ही इच्छा करते हैं अतएव देहादिकों की आवश्यकता और उसका लोभ उत्पन्न होता है। विषय सुख को उसी का एक अङ्ग समझते हैं। वह सुख तो सुषुप्ति में अथवा किसी सङ्कट के दूर होने पर अनुभूत होता है। किसी सुख उत्पादक साधन के बिना जो निर्निमित्त आनन्द होता है वही आत्म सुख है। चित् सबका अभीष्ट है। चित् ही आनन्द है, मूढ़ लोग इस आत्मसुख को नहीं जानते इस सुख के व्यक्त होने में अनेक बाह्य विषय कारण होते हैं।

अतएव वे लोग इस महा सुख को वाह्य सुख समझते हैं। दर्पण पर कारणवश पड़ने वाले प्रतिबिम्ब स्वयं दर्पण नहीं प्रतीत होतें हैं, भिन्न पदार्थ से ही मालूम होते हैं। जब उनका प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्बत्व मालूम हो जाता है तब पूर्ववत् भासमान् होने पर भी वे दर्पण से भिन्न नहीं मालूम होते। और दर्पण शुद्ध ही रहता है। इसी प्रकार तत्वज्ञानी पुरुष को भासमान होने पर भी यह जगत् आत्मरूपी अर्थात् अपने से अभिन्न ही मालूम होता है। जैसे मिट्टी में घट, सुवर्ण में भूषण और पाषाण में मूर्ति भासित होती है, वैसे ही यह जगत् चिद्रूप आत्मा पर भासित होता है।

हे सूत! "तू यह सिद्धान्त न कर कि यह संसार है ही नहीं। संसार नहीं है" यह भावना अपूर्ण है। यह मनमाना सिद्धान्त सिद्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि सारे संसार का लय हो जावे तो उसको लय करने वाला आत्मा के रूप से फिर भी रहता है। अत एव "संसार बिल्कुल है ही नहीं" ऐसा कहते रहने पर क्या उसका लय हो सकता है? हाँ, यह स्पष्ट है कि यद्यपि संसार संसार रूप से नहीं है तथापि वह चिदात्मरूप से अवश्य है। हाँ, उसी को पूर्ण ज्ञान कहते हैं क्योंकि भासमान होने वाले संसार के न होने की भावना रखने पर स्वरूप का सङ्कोच नहीं होता। अपने स्वरूप भूत माहात्म्य से केवल द्रक ही दृश्य रूप हो गया है। यही सब शास्त्रों का सार है। "न बन्ध है, न मोक्ष है, न साधक है, न साधन है, अखण्ड अद्वैत केवल एक ही चित्शक्ति ब्रह्म ही सर्वथा भासित हो रहा है। वही विद्या और वही अविद्या है, वही बन्धन है, वही मोक्ष है, और वही मोक्ष का साधन है।"

हे सूत! जो ज्ञेय है वह इतना ही है इससे अधिक कुछ नहीं। मैंने तुझे आरम्भ से ज्ञान का क्रम बतलाया है। इसे उत्तम रीति से जान लेने पर मनुष्य को फिर कभी शोक करने का प्रसङ्ग नहीं आवेगा।

श्री वेदव्यास के इस अनुपम ज्ञान बोध से सूत कृतार्थ हो गया। उसके सभी सँशय सर्वदा के लिये शान्त हो गये। वह अगाध शान्त सिन्धु में मग्न हो गया। उसने अपना तथा संसार का रहस्य समझ लिया।

"इस वेद सूत सम्वाद रूप "ब्रह्म विज्ञान" को जो पढ़कर मनन करेगा, उसका मोहजन्य अज्ञान अवश्य नष्ट हो जावेगा। यह सरल शुद्ध युक्तिवाद पूर्ण तथा अपरोक्ष अनुभव से भरा है। उसका समस्त विषय स्वानुभूत एवं सच्छास्त्र सम्मत है। यदि इसे हृदयङ्गम करने पर भी किसी का मोह नष्ट न हो तो उसे पाषाणमूर्ति समझना चाहिये। फिर उसे अन्य उपाय से ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस ग्रन्थ को पढ़कर उत्तम अधिकारी एक बार में ही चित्तत्व का साक्षात्कार कर लेगा। मध्यम अधिकारी को दो चार बार श्रवण करना होगा। इसका श्रवण ज्ञान दायक एवं परम पुण्यप्रद है। इस ग्रन्थ को पास रखकर अवलोकन करने से "दृष्टि दोष" नष्ट होते हैं। उसमें पूज्यभाव रखने से चित्त शुद्ध होता है। इसका सदैव परिशीलन करने से बुद्धि की जड़ता दूर होती है। इस ग्रन्थ से विचार उत्पन्न होता है और अन्त में सर्वान्तिर्यामी आत्मा का असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है।"

पुण्य प्रदः पाप हरो मनोज्ञः।
गुह्यातिगुह्यो मुनिज्ञान गम्यः॥
संसार जीवेश रहस्य पूर्णः।
ग्रन्थो मयोक्तः भव पोतरूपः॥ २४॥

ग्रन्थस्य दोषाः सकलाः मदीयाः।
गुणाः गुरूणाञ्च विचारणीयाः॥
शुक्तौ च मुक्ता गरलं भुजङ्गे।
स्वातेर्जलं किन्तु समानमेव॥ २५॥
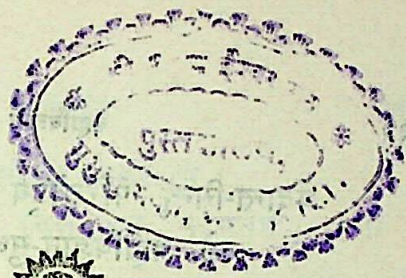
ज्ञानाद्विहीनोऽपि, गुरुप्रसादात् ।
लभामहे नूनमिदं महत्वम् ॥
पङ्कस्य कीटोपि सुपुष्प सङ्गात् ।
आप्नोति भालं वृषवाहनस्य ॥ क ॥

विद्या वियुक्तस्त्रय ताप युक्तः ।
मार्गे मुनीनां मन आदधामि ॥
कृतञ्च यत्तत् परकीयमेव ।
सत्यं कले र्जीव-स्वभाव एषः ॥ ख ॥

वेदान्तसिन्धुं भ्रमभूरिपूर्णाम् ।
सच्छिद्रया क्षुद्रतरी धियाऽहम् ॥
पारं चिकीर्षुर्मम मोह एषः ।
खद्योत-दीप्ति र्न निशातमो यथा ॥ ग ॥

स्वान्तः सुखाय लिखितां शुचिब्रह्मविद्याम् ।
श्रद्धा-विवेक-बलिनः पुरुषा अधीत्य ॥
नूनं विहाय कलि कुञ्जर भूरि भीतिम् ।
तेजस्विनो मृगपतेः पदतां लभन्ते ॥ घ ॥

वेदान्त-सिन्धुं परिलोड्य यत्नैः ।
यो ब्रह्मविज्ञान-सुधा-सुकुम्भम् ॥
नीत्वागतः लोकहिताय भूमौ ।
तीर्थोत्तरः स्वामिवरः "स्वयम्भू" ॥ ङ ॥

प्रथमोऽध्यायः

सर्वेषु दुःखेषु जगद्गतेषु ।
कर्त्तव्य तैवास्ति विशाल-दुःखम् ॥
तस्यां स्थितायां न सुखातिरेकम् ।
तस्माच्च तन्नाश-विधि-र्विधेया ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

विचार एवास्ति परं निधानम् ।
बीजं विशुद्धं सुख पादपस्य ॥
तस्यैव शक्तिर्हि नवाङ्कुरश्च ।
विचारवान्भाति नरो धरायाम् ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

आनन्दसिन्धोस्तव वारिविन्दोः ।
पुरः किमास्ते विधि-लोक-सौख्यम् ॥
पादारविन्देषु रतिं प्रयच्छ ।
श्रुत्वा बलेर्गां हरिरालिलिङ्ग ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

संसार भोगान् विष मन्यमानाम् ।
औदास्य भावं सततं वहन्तीम् ॥

पप्रच्छ राजा महिषीं स्वकीयाम् ।
किमस्ति चित्ते तव पद्मनेत्रे ॥ ४ ॥

पंचमोऽध्यायः

किमस्ति तत्वं प्रियकारि वस्तुतः ।
किमीरितं विप्रियकारि मे वद ॥
अनिष्ट मिष्टं न च वेद्मि मन्दधीः ।
त्वमेव तत् बोधयितुं प्रवर्तसे ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

पुरा ददौ मे जनको मदर्थम् ।
सखीं सतीं सौम्यस्वभावशीलाम् ॥
परन्तु साऽन्यामसतीं स्वभाव ।
दुष्टां सखीं प्राप्य विदूषिताऽभूत् ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

जहाति श्रद्धारहितं नरं यशः ।
सुखञ्च लक्ष्मीश्च विवेकिनी मतिः ॥
लतां सुश्रद्धां परमार्थ-मञ्जुल-
फल-प्रदां प्राप्य सुखी नरः स्यात् ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

सद्युक्तिभिः वेद-पुराण-शास्त्रैः ।
संसार-निर्माण-विधिञ्च दृष्ट्वा ॥
संसिद्धमेवेश्वरकर्तृ कत्वम् ।
परन्तु कर्ता स विलक्षणोऽस्ति ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

पिता मदीयः परतत्वमुच्यते ।
सखीं सतीं बुद्धिमवेहि भूपते ।।
असत्स्वभावा ह्यसती विचार्यताम् ।
यस्यास्तु सङ्गेन मतिर्विदूषिता ।। ९ ।।

दशमोऽध्यायः

असु-तनु-मति-मुक्तं पञ्च कोशादतीतम् ।
परम-सुख-निधानं शुद्ध चैतन्यरूपम् ।।
इति मनसि निजं स्वं स्वात्मना संविचार्य ।
सपदि विषमचक्षुर्लक्ष्य सिद्धिञ्चकार ।।१०।।

एकादशोऽध्यायः

महीप पुत्रस्य वधू प्रभावतः ।
नराधिपो मन्त्रिगणाः सभासदः ।।
नराश्च नार्यश्च तथा विटा नटाः ।
समे जना जीवनमुक्तितां ययुः ।। ११ ।।

द्वादशोऽध्यायः

प्रभासते विश्वमिदं जडात्मकम् ।
चिदात्म-भित्तौ प्रतिबिम्ब रूपकम् ।।
स्वतो न सत्ता जगतश्च विद्यते ।
यथा प्रतीति-र्नगरस्य दर्पणे ।।१२।।

त्रयोदशोऽध्यायः

ततः पयः पूरप्रवाहितस्य ।
हृदस्य कूले वटपादपस्थः ॥
खादन् विवादे विजितान् मनुष्यान् ।
स राक्षसः लोचन-गोचरोऽभूत् ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

विलोकितं तत्र विचित्र लोकम् ।
प्रविश्य राज्ञा तु गिरेर्गुहायाम् ॥
पुनस्तदाऽगत्य विलोक्य सृष्टिम् ।
पप्रच्छ मर्माणि मुनिं महीपः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

यथैव चित्तेन सुचिन्तितेन ।
प्रबुध्यते चेतसि स्वप्नजालम् ॥
तथैव विश्वं चिति भासमानम् ।
स्वप्नं हि विश्वं विबुधाः वदन्ति ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

प्रतीयते काल पदार्थं वस्तु ।
विभावितं भावनयैव सर्वम् ॥
भावेन सिद्धि र्जगतश्च जाता ।
का कुत्र भावेन विना प्रतीतिः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

वितण्डया विप्र कुलान्स वारुणिः ।
विजित्य तान् नीरनिधौ न्यमज्जयत् ।।
कहोल-पुत्रेण पराजितः स वै ।
मुनिस्तु गार्ग्या बहु खिन्नतां गतः ।।१७।।

अष्टादशोऽध्यायः

अविद्यया प्रावृत-चित्त-वृत्तिः ।
भवेत्सुषुप्ति र्नं चिदात्म भासः ।।
प्रकाश-चैतन्य-युतः समाधिः ।
कथं सुषुप्तिर्हि समाधितुल्या ।।१८।।

एकोनविंशतिरध्यायः

चैतन्यपूर्णोऽस्मि स्वभावतोऽहम् ।
तस्मान्निरोधे मनसः क्व लाभः ।।
सर्वत्र शुद्धोऽस्मि विनिश्चयो मे ।
कार्ये समाधावपि तुल्यरूपः ।।१६।।

विंशतिरध्यायः

गुह्याति गुह्यं भवता यदुक्तम् ।
चैतन्य-रूपेण विभासमानम् ।।
दृश्यं प्रपञ्चञ्च तदेक रूपम् ।
सर्वं न तद्बुद्धि पदं गतं मे ।।२०।।

एकविंशतिरध्यायः

बुद्धेर्विभेदैः स्थितयो विभिन्नाः ।
विवेकिनां ज्ञानवतां लसन्ति ॥
संसार कार्येऽपि समाधि-मग्ना ।
केऽप्यात्म-सन्धान-विशेष-लग्नाः ॥२१॥

द्वाविंशतिरध्यायः

ब्रह्मादिदेवै रुपगीयमानम् ।
साक्षात्परब्रह्म तदाविरासीत् ॥
यद्वेद-तत्वं निहितं गुहायाम् ।
आकाश वाण्या तु तदेव मुक्तम् ॥२२॥

त्रयोविंशतिरध्यायः

सिद्धान्त सारः प्रतिपादितोऽयम् ।
ब्रह्मैव सत्यं जगदस्ति मिथ्या ॥
जीवेशयोः कोऽपि न कुत्र भेदः ।
संसारतत्वन्तु चिदात्मकत्वम् ॥२३॥

✦

पुण्यप्रदः पापहरो मनोज्ञः ।
गुह्याति गुह्यो मुनि-ज्ञान-गम्यः ॥
संसार-जीवेश-रहस्य-पूर्णः ।
ग्रन्थो मयोक्तः भवपोत रूपः ॥२४॥

✦

ग्रन्थस्य दोषाः सकलाः मदीयाः ।
गुणाः गुरूणाञ्च विचारणीयाः ॥
शुक्तौ च मुक्ताः गरलं भुजङ्गे ।
स्वातेर्जलं किन्तु समान मेव ॥२५॥